

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : १०२
प्राकृत भारती पुष्प : १३५

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन
प्रो० भागचन्द्र जैन भास्कर

हरिभद्रसूरि विरचित

आष्टकप्रकरणम्

अनुवादक
डॉ० अशोक कुमार सिंह
वरिष्ठ प्रवक्ता

सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

२०००

प्रकाशकीय

जैन साहित्य के क्षेत्र में आचार्य हरिभद्र का अवदान महत्वपूर्ण है। आचार्य के उपलब्ध ग्रन्थों के अध्ययन एवं अनुवाद का भी सराहनीय प्रयास हुआ है। उनकी अधिकांश कृतियों का गुजराती में अनुवाद हुआ है। हरिभद्र की कृतियों का अनुवाद उपलब्ध कराने की दृष्टि से पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने उनके ग्रन्थों का अनुवाद सहित प्रकाशन की योजना बनाई है। इस क्रम में प्राकृत ग्रन्थ 'पञ्चाशक-प्रकरणम्' का डॉ० दीनानाथ शर्मा कृत हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है और संस्कृत कृति अष्टकप्रकरणम् को हिन्दी-अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित कर रहे हैं।

अष्टकप्रकरणम् आठ-आठ श्लोक के बत्तीस गुच्छकों का संग्रह है। इसमें जैन आचार एवं दर्शन सम्बन्धी मान्यताओं के सम्बन्ध में परमतवादियों की आपत्तियों का खण्डन और जैन मान्यताओं का आगमसम्मत मण्डन किया गया है।

इस कृति का हिन्दी-अंग्रेजी अनुवाद एवं रोमन-ट्रान्सलिट्रेशन विद्यापीठ के वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० अशोक कुमार सिंह ने किया है। इस अनुवाद में जिनेश्वरसूरि कृत अष्टकप्रकरण की संस्कृत वृत्ति का आश्रय लिया गया है। इसकी हिन्दी-अंग्रेजी भूमिका भी डॉ० अशोक कुमार सिंह ने ही लिखी है, अतः हम उन्हें साधुवाद देते हैं। प्रो० सागरमल जैन जो हमारी अकादमिक गतिविधियों के प्रेरणास्त्रोत हैं, उन्होंने अनुवाद का संशोधन भी किया है, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं। प्रकाशन सम्बन्धी कार्यों में पार्श्वनाथ विद्यापीठ के ही प्रवक्ता डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय एवं डॉ० विजय कुमार जैन का अपेक्षित सहयोग हमें प्राप्त हुआ है, अतः हम उनके भी आभारी हैं।

अन्त में हम सुन्दर अक्षर-सज्जा के लिये नया संसार प्रेस, भदौनी, वाराणसी एवं मुद्रण के लिये वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं।

डॉ० आर० मेहता
मन्त्री
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

भूपेन्द्र नाथ जैन
मन्त्री
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी

पुरोवाक्

आचार्य हरिभद्रसूरि आठवीं शताब्दी के शीर्षस्थ जैनाचार्य थे। यद्यपि वे चित्तौड़ के राजा जितारो के राजपुरोहित थे पर पारङ्गत वैदिक विद्वान् होने के कारण अभिमानी होने पर भी ज्ञानपिपासु थे। वही ज्ञानपिपासा उन्हें आर्या महत्तरा के आग्रह पर आचार्य जिनभट्ट के पास ले गयी और परिणामतः वे जैनाचार्य हरिभद्र बन गये। आवश्यक-निर्युक्ति-टीका के अनुसार जिनभट्ट उनके गच्छपति गुरु थे, जिनदत्त दीक्षागुरु थे, याकिनी महत्तरा धर्मजतनी थीं, उनका कुल विद्याधर एवं सम्प्रदाय श्वेताम्बर था।

कहा जाता है इस तरह आचार्य हरिभद्र ने १४४४ ग्रन्थों की रचना की। उन सभी ग्रन्थों की परिगणना तो नहीं की जा सकी पर विशिष्ट ग्रन्थों की सूची अवश्य इस तरह तैयार की गई है- १. अनुयोगद्वारसूत्रवृत्ति, २. अनेकान्तजयपताका (स्वोपज्ञ-टीकासहित), ३. अनेकान्तप्रघट्ट, ४. अनेकान्तवादप्रवेश, ५. अष्टकप्रकरण, ६. आवश्यकनिर्युक्ति लघुटीका, ७. आवश्यकनिर्युक्ति बृहटीका, ८. उपदेशपद, ९. कथाकोष, १०. कर्मस्तव, ११. कुलक, १२. क्षेत्रसमासवृत्ति, १३. चतुर्विंशतिस्तुतिसटीक, १४. चैत्यवन्दनभाष्य, १५. चैत्यवन्दनवृत्तिललितविस्तर, १६. जीवाधिगमलघुवृत्ति, १७. ज्ञानपञ्चकविवरण, १८. ज्ञानादित्यप्रकरण, १९. दशवैकालिक अवचूरि (बृहटीका), २०. देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण, २१. द्विजवदनचर्पटा, २२. धर्मबिन्दु, २३. धर्मलाभसिद्धि, २४. धर्मसंग्रहणी, २५. धर्मसारमूलटीका, २७. घूर्ताख्यान, २७. नन्दोसूत्रवृत्ति, २८. न्यायप्रवेशसूत्रवृत्ति, २९. न्यायविनिश्चय, ३०. न्यायाभूततरङ्गिणी, ३१. न्यायावतारवृत्ति, ३२. पञ्चनिर्ग्रन्थि, ३३. पञ्चलिंगो, ३५. पञ्चवस्तु सटीक, ३५. पञ्चसंग्रह, ३६. पञ्चसूत्रप्रकरणवृत्ति, ३७. पञ्चस्थानक, ३८. पञ्चाशकप्रकरण, ३९. परलोकसिद्धि, ४०. पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति, ४१. प्रज्ञापनासूत्र प्रदेशव्याख्या, ४४. भुनिपतिचरित, ४५. यतिदिनकृत्य, ४६. यशोधरचरित्र, ४७. योगदृष्टिसमुच्चय, ४८. योगविन्दु, ४९. योगशतक, ५०. लग्नशुद्धि, ५१. लोकतत्त्वनिर्णय, ५२. लोकविन्दु, ५३. विंशतिविंशिका, ५४. वीरस्तव, ५५. वीरांगदकथा, ५६. वेदबाह्यातिराकरण, ५८. व्यवहारकल्प, ५९. शास्त्रवार्तासमुच्चय स्वकृतव्याख्यासहित, ६०. श्रावकधर्मतन्त्र, ६१. षड्दर्शनसमुच्चय, ६२. षोडशक, ६३. संग्रहणीवृत्ति, ६४. सम्बोधप्रकरण, ६५. आत्मानुशासन, ६६. समराश्चककथा, ६७. सर्वज्ञसिद्धिप्रकरण सटीक, ६८. स्याद्वादकुचोद्यपरिहार, ६९. दिङ्नागकृत न्यायप्रवेशसूत्रवृत्ति, और ७०. सम्बोधसप्ततिकाप्रकरण।

इन ग्रन्थों में यथासम्भव चयनित ग्रन्थों का सानुवाद प्रकाशन प्राकृत भारती के सहयोग से होना निश्चित हुआ है। इसी शृङ्खला में डॉ० अशोक कुमार सिंह द्वारा कृत हिन्दी-अंग्रेजी अनुवाद के साथ अष्टकप्रकरण प्रकाशित हो रहा है। डॉ० सिंह हमारे संस्थान के वरिष्ठ युवा प्रवक्ता हैं और संस्कृत-प्राकृत के कार्यशील निष्णात विद्वान् हैं।

अष्टकप्रकरण की कतिपय विशेषताएँ उद्धरणीय हैं—

१. अष्टकप्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने सर्वप्रथम महादेवाष्टकम् लिखकर महादेव की स्तुति की है और उन्हें वीतराग, सर्वज्ञ, शाश्वतसुखेश्वर, क्लिष्टकर्मकलातीत, निष्कल, सर्वदेवपूज्य, सर्वयोगिष्येय, सर्वनीतिसृष्टा, परं ज्योति, त्रिकोटोदोषवर्जित आदि विशेषणों से आभूषित किया है। यह निश्चित रूप से आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव की स्तुति है जो हरिभद्र के समय तक

महादेव के रूप में लोकप्रिय हो चुके थे। महाभारत से लेकर जिनसहस्रनाम तक आदिनाथ ऋषभदेव और महादेव शिव के नामों को समानान्तर रूप से प्रज्ञापित किया जाने लगा था। हरिभद्र ने दोनों व्यक्तित्वों में एकरूपता को प्रस्थापित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इस विषय में भरे अनेक निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं इसलिए उनकी पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है।

२. हरिभद्र ने अपने इस प्रकरण में जैनदर्शन के इस तथ्य को भी बार-बार दुहराया है कि द्रव्य और भाव में भाव भले ही मुख्य है पर द्रव्य भाव का निमित्त बनकर रहता है इसलिए द्रव्यनय की उपेक्षा नहीं की जा सकती। देवपूजा के लिए शारीरिक स्नानादि द्रव्य स्नान है और ध्यानरूपी जल से कर्मरूपी मल की शुद्धि भाव स्नान है। द्रव्य स्नान भाव स्नान का निमित्त है और भाव स्नान करनेवाला ही सही अर्थों में स्नातक है।
३. पुष्पादि द्वारा की गई वीतरागदेव की पूजा अशुद्ध पूजा है। शुद्ध पूजा तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, गुरुभक्ति, तप और ज्ञान इन आठ सत्पुण्यों या भावपुण्यों से की गई पूजा शुद्ध पूजा मानी जाती है। इसी से कर्मशून्य होता है।
४. दीक्षा का उद्देश्य मोक्ष है और आगम में मोक्ष को ज्ञान और ध्यान का फल कहा गया है। यज्ञादि कार्य सफल होते हैं जिन्हें मोक्ष का कारण नहीं माना जा सकता। निष्काम होना ही मोक्ष का कारण है। यहाँ 'सच्छात्र संस्थितिः' (४.७) लिखकर हरिभद्र ने जैन-जैनेतर शास्त्रों में अन्तर दिखाया है।
५. शिक्षा तीन प्रकार की होती है— सर्वसम्पत्करी, पौरुषघ्नी और वृत्तिभिक्षा। इनमें प्रथम शिक्षा सर्वोत्कृष्ट है, अन्तिम मध्यमकोटि की है और पौरुषघ्नी शिक्षा जघन्यकोटि की मानी जाती है।
६. सर्वसम्पत्करी शिक्षा अनौद्देशिक और असंकल्पित होती है जिसकी प्राप्ति सरल नहीं होती है। इसलिए पतिधर्म को दुष्कर माना गया है।
७. यति के लिए यह निर्देश दिया गया है कि वह अपना आहार एकान्त में करे। प्रकट भोजन, प्रकट रूप से आहार करने वाला श्रमण याचकादि को दान देने और न देने से दोनों प्रकार से दोषयुक्त होता है।
८. भोजन, यश आदि ऐहिक कामनादि से मुक्त प्रत्याख्यान द्रव्य प्रत्याख्यान है जो निन्द्य माना जाता है और सम्यक्चारित्र्य भाव प्रत्याख्यान है जो मोक्षसाधक कहा गया है।
९. आत्मपरिणतिरूप ज्ञान वैराग्य का कारण है और तत्त्व संवेदनरूप ज्ञान मोक्ष का कारण है।
१०. सज्ज्ञानजन्य वैराग्य आत्मादि तत्त्वों के ज्ञान से होता है और वही मुक्ति का साधन माना गया है।
११. तप दुःखात्मक नहीं होता है। वह तो अस्तुतः विशिष्ट संवेग, विशिष्ट शम रूप उत्तम तत्त्व है और प्रशम सुखात्मक है।
१२. शुष्कवाद, विनयवाद और धर्मवाद में से धर्मवाद को सर्वोत्तम माना गया है। इससे धर्मप्रभावना, मैत्री आदि प्रशस्त फल मिलता है।
१३. धर्मवाद धर्म का साधन स्वरूप है और मोक्ष सिद्धि देने वाला है।
१४. आत्मा का एकान्त नित्यत्व पक्ष सही नहीं है। उसे परिणमनशील भी माना जाना चाहिए।

तभी उसमें अहिंसा-हिंसा आदि पारमार्थिक दृष्टि से घटित हो सकते हैं।

१५. इसी तरह एकान्त अनित्य पक्ष भी सही नहीं है। उसमें अहिंसा का संरक्षण नहीं हो पाता।
१६. अतः नित्यानित्य पक्ष युक्तिसंगत है।
१७. ओदन आदि के सदृश मांस को भक्षण्य नहीं कहा जा सकता। प्राणी का अंग मात्र होने के सादृश्य से यदि मांसभक्षण संगत है तो स्त्रीत्व का सादृश्य होने से पत्नी और माता में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए।
१८. मांसभक्षण किसी भी हालत में निर्दोष नहीं माना जा सकता है।
१९. मद्यपान भी विपदाकारक है।
२०. मैथुन भी अधर्म का कारण है। वह विषमिश्रित अन्न की तरह त्याज्य है।
२१. सूक्ष्म बुद्धि से धर्म को ग्रहण करना चाहिए।
२२. याव-विशुद्धि मोक्ष का कारण है।
२३. जिनशासन को कभी मलिन नहीं करना चाहिए। प्रत्येक भव में उसकी प्रभावना होनी चाहिए।
२४. व्यक्ति शुभाचरण और शुभ भाव से शुभतर भव में जाता है। जीवदया, वैराग्य, विधिपूर्वक गुरुपूजन और विशुद्धशीलवृत्ति पुण्यानुबन्धी पुण्य के निमित्त है।
२५. माता-पिता की सेवा प्रज्ज्या का आदि और उत्तम मंगल है, क्योंकि ये माता-पिता धर्म में प्रवृत्त मनुष्यों के महान् पूजास्पद हैं।
२६. महादान द्वारा ही तीर्थङ्करों का महानुभावत्व सिद्ध है।
२७. तीर्थङ्कर नामकर्म के उदय से तीर्थङ्कर समस्त प्राणियों के कल्याण की प्रवृत्ति करते हैं।
२८. दीक्षित होते समय राज्यादि के दान में दोष नहीं माना गया है अन्यथा धर्मदेशना भी सदोष हो जायेगी।
२९. समभाव की साधना सामायिक है। वह पूर्णतया शुरू होने से कल्याणकारी है।
३०. केशलज्ञान आत्मा का स्वभाव है। आत्मस्थ होकर ही वह सर्वलोकालोक प्रकाशक है।
३१. तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय होने से वीतराग होने पर भी वे धर्मदेशना में प्रवृत्त होते हैं।
३२. सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होना ही मोक्ष है। मोक्ष सुख पूर्णतः स्वतन्त्र, निष्कांक्ष, निर्विघ्न, स्वाभाविक नित्य और भयमुक्त होता है।

अष्टकप्रकरण का मूल उद्देश्य रहा है जैनधर्म के व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत करना और उसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए पारमार्थिक स्वरूप की ओर संकेत करना। आचार्य हरिभद्र ने युगीन आवश्यकता देखकर अपना साहित्य सृजन किया जो आज भी प्रासंगिक है। आशा है सुधी पाठकों की डॉ० सिंह का यह अनुवाद रुचिकर सिद्ध होगा।

दिनांक २३.७.२०००

प्रोफेसर भागचन्द्र जैन 'भास्कर'
निदेशक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

विषय-वस्तु

| | | पृष्ठ-संख्या |
|-----------|------------------------------------|--------------|
| | अष्टक-प्रकरण : एक परिचय | vii-xxiv |
| | Aṣṭaka-Prakaraṇa : An Introduction | xv-xlv |
| प्रकरणम् | | |
| प्रथम | महादेवाष्टकम् | 02-05 |
| द्वितीय | स्नानाष्टकम् | 06-09 |
| तृतीय | पूजाष्टकम् | 10-13 |
| चतुर्थ | अग्निकारिकाष्टकम् | 14-17 |
| पञ्चम | भिक्षाष्टकम् | 18-21 |
| षष्ठ | सर्वसम्पत्करी भिक्षाष्टकम् | 22-27 |
| सप्तम | प्रच्छन्नभोजनाष्टकम् | 28-31 |
| अष्टम | प्रत्याख्यानाष्टकम् | 32-35 |
| नवम | ज्ञानाष्टकम् | 36-39 |
| दशम | वैराग्याष्टकम् | 40-43 |
| एकादश | तपोऽष्टकम् | 44-47 |
| द्वादश | वादाष्टकम् | 48-51 |
| त्रयोदश | धर्मवादाष्टकम् | 52-55 |
| चतुर्दश | एकान्तनित्यपक्षखण्डनाष्टकम् | 56-59 |
| पञ्चदश | एकान्तनित्यपक्षखण्डनाष्टकम् | 60-63 |
| षष्ठदश | नित्यानित्यपक्षमण्डनाष्टकम् | 64-67 |
| सप्तदश | मांसभक्षणदूषणाष्टकम् | 68-71 |
| अष्टदश | मांसभक्षणदूषणाष्टकम् | 72-75 |
| एकोनविंश | मद्यपानदूषणाष्टकम् | 76-79 |
| विंश | मैथुनदूषणाष्टकम् | 80-83 |
| एकविंश | सूक्ष्मबुद्ध्याश्रयणाष्टकम् | 84-87 |
| द्वाविंश | भावविशुद्धिविचाराष्टकम् | 88-91 |
| त्रयोविंश | शासनमालिन्यनिषेधाष्टकम् | 92-95 |
| चतुर्विंश | पुण्यानुबन्धिपुण्यादिविवरणाष्टकम् | 96-99 |

| प्रकरण | | पृष्ठ-संख्या |
|------------|--|--------------|
| पञ्चविंश | पुण्यानुबन्धिपुण्यप्रधानफलाष्टकम् | 100-103 |
| षष्ठविंश | तीर्थकृद्दानमहत्त्वसिद्धयष्टकम् | 104-107 |
| सप्तविंश | तीर्थकृद्दाननिष्फलतापरिहाराष्टकम् | 108-111 |
| अष्टविंश | राज्यादिदानोपेक्षाधिकृतोदोषभावप्रतिपादनाष्टकम् | 112-115 |
| ऊनविंश | सामायिकस्वरूपनिरूपणाष्टकम् | 116-119 |
| त्रिंश | केवलज्ञानाष्टकम् | 120-123 |
| एकत्रिंश | तीर्थकृद्देशनाष्टकम् | 124-127 |
| द्वात्रिंश | मोक्षाष्टकम् | 128-133 |
| | श्लोकानुक्रमणिका | 134-138 |



अष्टक-प्रकरण : एक परिचय

जैन परम्परा के प्रमुख और बहुश्रुत आचार्य हरिभद्र चित्तौड़ या उसके समीप उत्पन्न हुए थे। उनके जीवन के विषय में बहुत कम सूचनाएँ उपलब्ध हैं। मुनि जिनविजय द्वारा स्थापित मान्यता के अनुरूप उनका समय ई० सन् ७५३-८२७ के मध्य है जिसे सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। हरिभद्र ब्राह्मण जाति के थे, उनकी माता गङ्गाबाई और पिता शङ्करभट्ट थे। वे चित्तौड़ के राजा जितारि के राजपुरोहित थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि वे जिसका कथन ग्रहण करने में असमर्थ होंगे, उसी का शिष्यत्व स्वीकार कर लेंगे। जैन साध्वी याकिनी महत्तरा के गाथा-पाठ को न समझ पाने के उनके जीवन के सर्वाधिक रोचक प्रसङ्ग ने हरिभद्र को जैन साधु जिनभट्ट सूरि का शिष्य बना दिया।

उद्भट विद्वान्, राजपुरोहित और सबसे बढ़कर अभिमानी इस ब्राह्मण द्वारा जैन धर्म अङ्गीकार करना मात्र धर्म-परिवर्तन नहीं था बल्कि नया जन्म था। इस आध्यात्मिक पुनर्जन्म ने उनके जीवन और विचारों को नयी दिशा प्रदान की। यद्यपि उनका पूर्ण रूप से धर्मान्तरण हो गया था परन्तु उन्होंने पूर्ववर्ती परम्परा के अपने ज्ञान और मान्यताओं को सँजोये रखा। जिनधर्म के नये प्रभाव ने उन्हें पूरे मनोयोग से दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रणयन में प्रवृत्त कर दिया था। पूर्व परम्पराओं के उनके उत्कृष्ट ज्ञान से सोने में सुहागा की उक्ति चरितार्थ हुई।

उनकी प्रतिभा के जीवन्त प्रतिमान उनकी कालजयी कृतियों में धार्मिक कथायें, दार्शनिक, उपदेशात्मक, आचार और योगविषयक ग्रन्थ अत्यन्त उच्चकोटि के हैं। उन्होंने बहुत से प्रकरण ग्रन्थों की भी रचना की है, जिनमें **अष्टकप्रकरण**, **षोडशकप्रकरण**, **विंशतिविंशिका** और **पञ्चाशकप्रकरण** भी हैं।

यहाँ संस्कृत भाषा में निबद्ध २५८ श्लोकों वाले **अष्टकप्रकरण** की संक्षिप्त विषय-वस्तु प्रस्तुत है। इसमें ३२ प्रकरण हैं और प्रत्येक प्रकरण में आठ-आठ श्लोक हैं। मात्र अन्तिम प्रकरण अपवाद है, जिसमें दस श्लोक हैं। इसके ३२ प्रकरणों के शीर्षक इस प्रकार हैं —

१. महादेवाष्टकम्, २. स्नानाष्टकम्, ३. पूजाष्टकम्, ४. अग्नि-

कारिकाष्टकम्, ५. भिक्षाष्टकम्, ६. सर्वसम्पत्करीभिक्षाष्टकम्, ७. प्रच्छन्न-
भोजनाष्टकम्, ८. प्रत्याख्यानाष्टकम्, ९. ज्ञानाष्टकम्, १०. वैराग्याष्टकम्,
११. तपाष्टकम्, १२. वादाष्टकम्, १३. धर्मवादाष्टकम्, १४. एकान्तनित्य-
पक्षखण्डनाष्टकम्, १५. अनित्यपक्षखण्डनाष्टकम्, १६. नित्यानित्यपक्ष-
मण्डनाष्टकम्, १७. मांसभक्षणदूषणाष्टकम्, १८. मांसभक्षणदूषणाष्टकम्,
१९. मद्यपानदूषणाष्टकम्, २०. मैथुनदूषणाष्टकम्, २१. सूक्ष्मबुद्ध्याश्रय-
णाष्टकम्, २२. भावविशुद्धिविचाराष्टकम्, २३. शासनमालिन्यनिषेधाष्टकम्,
२४. पुण्यानुबन्धिपुण्यादिविवरणाष्टकम्, २५. पुण्यानुबन्धिपुण्यप्रधानफला-
ष्टकम्, २६. तीर्थकृद्दानमहत्त्वसिद्धयष्टकम्, २७. तीर्थकृद्दाननिष्फलता-
परिहाराष्टकम्, २८. राज्यादिदानेऽपि-तीर्थकृतो-दोषाभाव-प्रतिपादनाष्टकम्,
२९. सामायिकस्वरूपनिरूपणाष्टकम्, ३०. केवलज्ञानाष्टकम्, ३१. तीर्थ-
कृद्देशनाष्टकम् और ३२. मोक्षाष्टकम्।

प्रथम 'महादेवाष्टकम्' में हरिभद्र महादेव (जिन) के सद्गुणों, सत्कृत्यों और पूजा स्वरूप का निरूपण करते हैं। महादेव वीतराग हैं और कर्म से अतीत हैं। वे सर्वज्ञ हैं, प्रशान्त और धीमान् हैं, शाश्वत सुख के स्वामी हैं और देवों द्वारा भी पूज्य हैं। महादेव उपदिष्ट आगमों के अनुसार अभ्यास अर्थात् आचरण उनकी सबसे बड़ी आराधना है और उनके उपदेश निश्चय ही संसार-चक्र का अन्त करने वाले हैं।

द्वितीय 'स्नानाष्टकम्' में द्विविध स्नान — द्रव्य और भाव रूप — जो जैनैतर परम्पराओं में क्रमशः बाह्य और आध्यात्मिक स्नान कहे जाते हैं — का निरूपण है। यद्यपि द्रव्य स्नान शरीर के अङ्ग-विशेष की क्षणिक शुद्धि का ही कारण है, फिर भी भाव शुद्धि का निमित्त है। स्नान के पश्चात् देव एवं श्रमणादि की पूजा करने वाले गृहस्थ का द्रव्य स्नान भी शुभ है। द्रव्य स्नान श्रमणों के लिए निषिद्ध है। उन्हें ध्यानरूपी जल से भाव स्नान करने का उपदेश है। सच्चे अर्थों में स्नातक वही है जो स्नान द्वारा समस्त मल से रहित हो जाता है और पुनः मलिन नहीं होता।

तृतीय 'पूजाष्टकम्' में द्विविध पूजा — द्रव्य और भाव का वर्णन है। द्रव्य पूजा स्वर्ग और भाव पूजा मोक्ष की साधनिका है। इसे क्रमशः अशुद्ध और शुद्ध पूजा भी कहा जाता है। द्रव्य पूजा अष्ट प्रकार की होती है, जाति (चमेली) आदि पुष्पों से सम्पादित की जाती है और शुभ बन्ध का कारण है। भाव पूजा या शुद्ध पूजा — अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, गुरुभक्ति, तप और ज्ञान रूपी — आठ भाव पुष्पों से सम्पन्न की

जाती है। भाव पूजा से आत्मा के भाव प्रशस्त हो जाते हैं और अन्ततः निर्वाण प्राप्त होता है।

चतुर्थ 'अग्निकारिकाष्टकम्' में श्रमणों को उपदेश दिया गया है कि उन्हें कर्मरूपी ईंधन, प्रबल शुभभावनारूपी आहुति और धर्मध्यानरूपी अग्नि से अग्निकारिका करनी चाहिए। दीक्षा मोक्ष का साधन है। पूजा से प्राप्त समृद्धि से पाप-वृद्धि होती है। दानादि धर्म-कृत्यों से पाप-विशुद्धि सम्भव नहीं है। पापक्षय केवल तप से होता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य रूप मोक्ष-मार्ग का सेवन करने से शुभतर और विशुद्ध समृद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

पाँचवें 'भिक्षाष्टकम्' में भिक्षा के तीन रूपों - सर्वसम्पत्करी, पौरुषघ्नी और वृत्तिभिक्षा का प्रतिपादन है। आदर्श साधु द्वारा स्थविर, ग्लान आदि के लिए भ्रमर-वृत्ति से की गई भिक्षा सर्वसम्पत्करी है। यह जिनशासन माहात्म्य में वृद्धि करने वाली है। श्रमणवेशधारी होते हुए भी श्रमणाचार के प्रतिकूल आचरण करने वाले की मात्र जीविका हेतु भिक्षा पौरुषघ्नी भिक्षा कही जाती है। जीविकोपार्जन के अन्य साधनों के अभाव में निर्धन, नेत्रहीनादि द्वारा जीविका हेतु माँगी गयी भिक्षा वृत्तिभिक्षा है। यह पौरुषघ्नी की अपेक्षा अच्छी मानी जाती है।

षष्ठ 'सर्वसम्पत्करीभिक्षाष्टकम्' मुख्य रूप से अन्य मतावलम्बियों की इस युक्ति का खण्डन करता है कि सर्वसम्पत्करी भिक्षा के अनुरूप विशुद्ध पिण्ड-दान व्यावहारिक नहीं है। इस पिण्ड की अनुपलब्धि अन्ततः सर्वज्ञता का भी निषेध कर देती है। विपक्षियों का तर्क है कि विशुद्ध पिण्ड के अभाव में श्रमणों का चारित्र्य विशुद्ध नहीं हो सकता और श्रमणों का चारित्र्य विशुद्ध नहीं होने से सर्वज्ञता स्वतः बाधित हो जाती है। हरिभद्र विशुद्ध पिण्ड की उपलब्धता युक्तिसङ्गत बताते हैं और इस प्रकार प्रकारान्तर से सर्वज्ञता की सिद्धि करते हैं।

सप्तम 'प्रच्छन्नभोजनाष्टकम्' में आचार्य ने निरूपित किया है कि प्रच्छन्न रूप से एकान्त में भोजन ग्रहण करना ही श्रमण के लिए सङ्गत है। अप्रच्छन्न रूप से उसके द्वारा आहार-ग्रहण अनुचित है। अप्रच्छन्न आहार-ग्रहण करने पर क्षुधा-पीड़ित दीनादि याचकों द्वारा माँगे जाने पर उनको आहार दान करने पर उसे पुण्य बन्ध होगा और आहार न देने पर जिन-शासन के प्रति उनके मन में द्वेष पैदा होगा। इन दोनों अशुभ स्थितियों से बचने के लिए श्रमणों को प्रच्छन्न आहार ग्रहण करना चाहिए।

अष्टम 'प्रत्याख्यानष्टकम्' में प्रत्याख्यान के द्रव्य और भाव दो प्रकार वर्णित हैं। द्रव्यप्रत्याख्यान का उद्देश्य ऐहिक कामना है जबकि भाव-प्रत्याख्यान में ऐहिक कामना सर्वथा निषिद्ध है। सांसारिक अपेक्षाएँ भाव प्रत्याख्यान के पालन में बाधा रूप हैं। भाव्यों द्वारा लब्धि-अर्पि की कामना से किया गया प्रत्याख्यान, भाव प्रत्याख्यान नहीं है। सम्यग्-अनुष्ठान के बिना ग्रहण किया गया प्रत्याख्यान विपरीत परिणाम वाला हो सकता है। जिन-धर्म में भक्ति के अभाव, विवेक के अभाव और संवेग की विकलता से प्रत्याख्यान अशुभ हो जाता है।

नवम 'ज्ञानाष्टकम्' में त्रिविध ज्ञान का प्रतिपादन है — विषय-प्रतिभास, आत्मपरिणतिमत तथा तत्त्वसंवेदन रूप। विषय, कण्टक आदि के विषय में शिशु आदि के मात्र स्थूल ज्ञान के सदृश ज्ञान विषय-प्रतिभास नामक ज्ञान होता है, यह महान अपाय का हेतु है। अधःपतन की प्रवृत्तियों के वशीभूत व्यक्ति का ज्ञान आत्मपरिणतिमत ज्ञान है, यह अनर्थ की प्राप्ति कराने वाला है। इस ज्ञान से युक्त पुरुष का आचरण सत् — शुभ होता है। यह ज्ञान शुभ बन्ध वाला तथा वैराग्य की प्रवृत्ति का कारण है। तृतीय, तत्त्व-संवेदन रूप ज्ञान स्वस्थ आचरण वाले प्रशान्त चित्त धारक को होता है। तत्त्वसंवेदन ज्ञान हेय-उपादेय का निश्चयात्मक बोध कराने वाला तथा मोक्ष का हेतु है।

दशम 'वैराग्याष्टकम्' त्रिविध वैराग्य - आर्तध्यान, मोहगर्भ तथा सज्ज्ञान से युक्त - का निरूपण करता है। इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से उत्पन्न होने वाला ध्यान आर्तध्यान रूप वैराग्य है। इसकी परिणति आत्महत्या आदि में होती है। द्वितीय, मिथ्यात्वी दर्शनों से प्रभावित होकर संसार से विरक्ति मोहगर्भ वैराग्य है। तृतीय, संसार-चक्र ही आत्मा के दारुण दुःख का कारण है; इस अनुभूति से उत्पन्न सम्यग्ज्ञान से युक्त संज्ञान वैराग्य है। इस वैराग्य में आत्मादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होता है।

एकादश 'तपोऽष्टकम्' में हरिभद्र विपक्षियों के इस तर्क का खण्डन करते हैं कि तप बेल आदि के दुःखों की भाँति दुःखात्मक है। आचार्य का अभिमत है कि यदि तप को दुःख से समीकृत किया जाय तो सभी दुःखी प्राणी तपस्वी हो जायेंगे। विपक्षियों की मान्यता का निहितार्थ यह होगा कि सभी नारक महान् तपस्वी और शम रूपी सुख की प्रधानता से युक्त योगी, अतपस्वी माने जायेंगे। हरिभद्र विपक्षियों के इस तर्क का भी खण्डन करते हैं कि तप को न तो युक्तिपूर्वक सिद्ध किया जा सकता है और न ही आगमों में तप का प्रतिपादन है।

बारहवें 'वादाष्टकम्' में वाद तीन प्रकार का निरूपित है - शुष्क-वाद, विवाद तथा धर्मवाद। निर्ग्रन्थ का, अत्यन्त अभिमानी, क्रूर हृदय, जिनधर्मद्वेषी तथा मूर्ख के साथ वाद 'शुष्कवाद' है। इस वाद में श्रमण की विजय होने पर पराजित वादी आत्महत्या आदि कर सकता है। श्रमण की पराजय से जिनधर्म के माहात्म्य की हानि होगी। इस प्रकार यह वाद दोनों रूपों में अनर्थकर है। वाक्छल और जाति की प्रधानता वाले 'विवाद' में वस्तु-तत्त्व का कथन करने वाले श्रमणों की विजय दुष्कर है। श्रमण का माध्यस्थ भाव युक्त तथा तत्त्वज्ञ के साथ वाद 'धर्मवाद' है।

तेरहवें 'धर्मवादाष्टकम्' के अनुसार धर्मवाद का विषय मोक्षोपयोगी है। सभी धर्मावलम्बियों के लिए पवित्र अहिंसा, सत्य आदि धर्मवाद के विषय बनते हैं। धार्मिकों के लिए प्रमाण के लक्षण पर विचार करना निष्प्रयोजन है। सद्वृत्तों को, ब्रह्म के जिनवर्णित यशस्विला को माध्यस्थ भाव से प्रमादरहित होकर, विचार करना चाहिए।

चौदहवें 'एकान्तनित्यपक्षखण्डनाष्टकम्' में 'आत्मा शाश्वत नित्य है' इस मत का निराकरण किया गया है। आचार्य के अनुसार शाश्वत आत्मा के अकर्ता (निष्क्रिय) होने से उसमें हिंसा, असत्य आदि घटित नहीं होंगे; जिसका निहितार्थ होगा कि अहिंसा, सत्य आदि भी घटित नहीं होंगे। पुनः हिंसादि के अभाव में सारे यम-नियमादि अनुष्ठान भी घटित नहीं होंगे और अन्ततः आत्मा का शरीर के साथ संयोग भी अयुक्तिसङ्गत सिद्ध हो जायेगा। इसी प्रकार आत्मा की सर्वव्यापकता से संसार-चक्र अतार्किक हो जायेगा।

चौदहवें 'एकान्तनित्यपक्षखण्डनाष्टकम्' और पन्द्रहवें 'एकान्त-अनित्यपक्षखण्डनाष्टकम्' में आचार्य हरिभद्र क्रमशः उन मतों का खण्डन करते हैं जो आत्मा को एकान्त नित्य, एकान्त अनित्य, शाश्वत और अकर्ता तथा सर्वथा क्षणिक मानते हैं।

सोलहवें 'नित्यानित्यपक्षमण्डनाष्टकम्' में हरिभद्र प्रतिपादित करते हैं कि नित्यानित्य तथा शरीर से भिन्नाभिन्न होने के कारण आत्मा में हिंसादि घटित होते हैं। यद्यपि हिंस्य (जिसकी हिंसा हो) के कर्म का उदय होने से हिंसा होती है परन्तु हिंसक निमित्त कारण है। हिंसा दूषित चित्त के कारण होती है। हिंसादि दुष्प्रवृत्तियों से विरति, गुरुओं अथवा जिनों के सदुपदेश से तथा प्रशस्त भावों के अनुबन्ध से होती है। आत्मा के नित्यानित्यादि स्वभाव की सिद्धि स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि प्रमाणों तथा देहस्पर्शवेदना एवं परम्परा से भी होती है।

सत्रहवें और अट्ठारहवें 'मांसभक्षणदूषण' शीर्षक अष्टकों में मनु-स्मृति में प्राप्त 'न मांसभक्षणे दोषः' का खण्डन किया गया है।

मांसाहार के समर्थक यह तर्क देते हैं कि जिस प्रकार गाय के शरीर के अवयव दूध तथा एकेन्द्रिय चेतन जीव धान के अवयव भात का आहार किया जाता है, उसी प्रकार प्राणी का अवयव होने से मांस भी भक्ष्य है। हरिभद्र उक्त तर्क का खण्डन करते हुए कहते हैं कि भक्षणीय और अभक्षणीय की व्यवस्था का हेतु शास्त्र और लोक-व्यवहार है। इस प्रकार मांस के भक्ष्य होने में प्राणी के अङ्ग का हेतु युक्तिसङ्गत नहीं है। मांसाहार इसलिए भी असङ्गत है कि स्वयः स्मृतियों में ही निरूपित है — इस लोक में मैं जिसका मांस-भक्षण कर रहा हूँ, वह मुझे दूसरे जन्म में भक्षण करेगा। आचार्य के मत में यह मांस-भक्षण का निषेध करने वाली स्पष्ट उद्धोषणा है।

'मांस-भक्षण दूषित नहीं है', इस मत का खण्डन करने के पश्चात् उन्नीसवें 'मद्यपानदूषणाष्टकम्' में 'मद्यपान दोष नहीं है' इस मत का निराकरण करते हुए आचार्य का कथन है कि मद्यपान घातक है और बहुदोषों वाला है। मद्यपान के दोषों के विषय में अधिक कहना भी निष्प्रयोजन है क्योंकि इसके दुर्गुण और घातक परिणाम प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। आचार्य ने मद्यपान के दुष्परिणामों को, हिन्दू पुराणों में प्राप्त ऋषि दृष्टान्त के माध्यम से बताया है।

बीसवें 'मैथुनदूषणाष्टकम्' में 'मैथुन में दोष नहीं है' का निराकरण किया गया है। आचार्य का तर्क है कि मैथुन सराग होता है और राग से उत्पन्न कोई भी क्रिया दोषरहित नहीं हो सकती है। स्मृति में वर्णित मैथुन के लिए विशिष्ट उद्देश्य और विशिष्ट अवसर भी इसे दुर्लभ क्रिया बताते हैं। इसकी भयावहता बताने के लिए हरिभद्र जैनागमों में वर्णित इस दृष्टान्त को भी उद्धृत करते हैं, जिसके अनुसार — जिस प्रकार नलिका में तप्त शलाका प्रविष्ट कराने से असंख्य जीवों की हत्या होती है उसी प्रकार मैथुन से भी असंख्य जीवों की हत्या होने से मैथुन दुर्गुणों का हेतु है।

इक्कीसवें 'सूक्ष्मबुद्ध्याश्रयणाष्टकम्' में हरिभद्र उचित-अनुचित का सदा सूक्ष्म बुद्धि से परीक्षण कर धर्माचरण करने का उपदेश देते हैं, अन्यथा अविचारित धर्मबुद्धि से ही धर्म का विधात होता है। उदाहरण-स्वरूप कोई श्रमण रुग्ण को औषधि प्रदान करने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर, रोगी के न मिलने से प्रतिज्ञा खण्डित होने पर शोक प्राप्त करता है, जबकि वास्तव में रुग्णता का अभाव आदर्श स्थिति है। निष्कर्ष यह कि सम्यग् विचार के अभाव में परोपकार की बुद्धि भी अहितकारिणी हो सकती है।

अतः दानादि भी सूक्ष्म दृष्टि से, विवेक और शास्त्र-मर्यादा का पूर्णतया पालन करते हुए करना चाहिए।

चाईसवें 'भावशुद्धिद्विगुणप्राप्त्यष्टकम्' में निर्दिष्ट है कि भावशुद्धि मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाली है। यह आगमोपदेशानुरागिणी है और स्वमताग्रह रहित है। चित्त को दूषित करने वाले राग-द्वेष और मोह, चित्त की शुद्धता को असम्भव बना देते हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य से युक्त गुणियों के पराधीन रहना ही मोहादि के ह्रास का कारण है। सदगुणियों की अधीनता चित्त-शुद्धता का प्रधान कारण है। सदगुणियों का अत्यधिक आदर करने वाला श्रमण निश्चित रूप से भावशुद्धि प्राप्त करता है।

तेईसवें 'शासनमालिन्ध्यनिवेधाष्टकम्' में उपदेश दिया गया है कि जिनशासन की अवमानना से यथासम्भव बचना चाहिए। यह पाप का प्रधान हेतु है। अज्ञानतापूर्वक भी जिनशासन की अवमानना करने वाला दूसरे प्राणियों के मिथ्यात्व का कारण बन जाता है और स्वयं तीव्र मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का बन्धन करता है। इसके विपरीत जिनशासन की प्रभावना करने वाला दूसरे प्राणियों के सम्यक्त्व की प्राप्ति का हेतु रूप होने से स्वयं सम्यक्त्व प्राप्त करता है, जो उसे अन्ततः मोक्ष सुख की ओर ले जाता है।

चौबीसवें 'पुण्यानुबन्धिपुण्यदिविवरणाष्टकम्' में निरूपित है कि शुभ बन्ध के निमित्त पुण्य कृत्यों का आचरण करना चाहिए। शुभ बन्ध के कारण पुरुष शुभ भव से शुभतर भव में जन्म लेता है, जबकि अशुभ बन्ध के कारण मनुष्य वर्तमान भव की अपेक्षा अशुभतर भव में जन्म पाता है। चित्त की विशुद्धि से शुभ बन्ध होता है। चित्त की शुद्धि ज्ञानवृद्धों की आज्ञा में रहने और आगमसम्मत आचरण करने से होती है।

पच्चीसवें 'पुण्यानुबन्धिपुण्यप्रधानफलाष्टकम्' में आचार्य द्वारा निरूपित है कि शुभ बन्ध सद्धर्म के पालन में बाधक नहीं है। माता-पिता की शुश्रूषा रूप प्रवृत्ति उचित है। गुरुजनों के वैयावृत्य रूप ये प्रवृत्तियाँ वास्तव में प्रव्रज्या की आदि और उत्तम मङ्गल रूप हैं। शुभ बन्ध से सर्वोत्तम फल तीर्थङ्करत्व की भी प्राप्ति होती है।

छब्बीसवें 'तीर्थकृद्दानमहत्त्वसिद्ध्यष्टकम्' में चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर द्वारा प्रव्रज्या के समय दिया गया दान महान् है, इसका प्रतिपादन है। बौद्धों का तर्क है कि बौद्धपिटकों में बोधिसत्त्वों का दान असंख्य प्रतिपादित होने से महान् कहा जा सकता है परन्तु जैनागमों में स्पष्ट रूप से तीर्थङ्कर कृत दान-राशि संख्या में वर्णित है, इसलिए उसे महान् नहीं कहा जा सकता है। उन (बौद्धों) के तर्क का खण्डन करते हुए आचार्य

ने प्रतिपादित किया है कि तीर्थङ्कर महावीर का दान दो दृष्टियों से महान् है — प्रथम, याचकों का अभाव और द्वितीय, उनकी घोषणा 'दान माँगो, 'दान माँगो' ।

सत्ताईसवें 'तीर्थकृद्दाननिष्फलतापरिहाराष्टकम्' में विपक्षियों के इस तर्क 'निश्चित रूप से तीर्थङ्कर अपने वर्तमान भव में ही मोक्षगामी होंगे, इसलिए उनके द्वारा किया गया दान निष्फल है', का खण्डन किया गया है। आचार्य का कथन है कि महान् आत्मायें अपने चित्त के दयामय अध्यवसाय के कारण दानादि में प्रवृत्त होती हैं। वास्तव में इस दान से उनके सञ्चित कर्मों का क्षय होता है।

अट्ठाईसवें 'राज्यादिदानेऽतितीर्थङ्करोदेषात्तद्व्याप्तनाशकम्' में विपक्षियों द्वारा राज्य महापाप का आधारभूत माना गया है। तीर्थङ्कर द्वारा राज्यादि अपने उत्तराधिकारियों को प्रदान करना अनुचित मानकर वे इसकी निन्दा करते हैं, जो सङ्गत नहीं है। आचार्य हरिभद्र का अभिमत है कि यदि राज्य को स्वामी-विहीन छोड़ दिया जाय तो इससे उत्पन्न अराजकता से जन-धन की बहुत क्षति होगी। इसलिए तीर्थङ्कर द्वारा राज्य का, उत्तराधिकारियों आदि को प्रदान करना जनहित में है। आचार्य हरिभद्र ने तीर्थङ्करों द्वारा गृहस्थ-जीवन में कृत विवाह को भी युक्तिसङ्गत बताया है।

उन्तीसवें 'सामायिकस्वरूपनिरूपणाष्टकम्' में सामायिक का स्वरूप और लक्षण निरूपित है। सामायिक प्राप्त लोगों का स्वभाव चन्दन के समान होता है। शुभ आशय वाली सामायिक को, लौकिक उदारता के फलस्वरूप उत्पन्न मन की शुभता से समीकृत नहीं करना चाहिए। अपने अपकारी के प्रति भी विशुद्ध सामायिक वाले के मन में अहित की भावना नहीं उत्पन्न होती है। बोधिसत्त्व के कथन 'जगत् के जीवों का सारा दुश्चरित्र मेरे में आ जाय और मेरे सुचरित्र के योग से सभी प्राणियों को मोक्ष मिले', के विषय में हरिभद्र का अभिमत है कि यह प्रार्थना एक गृहस्थ द्वारा बोधि प्राप्त करने हेतु है, वस्तुतः बोधिसत्त्व द्वारा ऐसी अर्चना नहीं की गयी है।

तीसवें 'केवलज्ञानाष्टकम्' में निरूपित है कि विशुद्ध आत्मा को लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त होता है। केवलज्ञान स्वभाव रूप होते हुए भी आत्मा अनादि काल से कर्मरूपी मल से आवृत्त है। जिस प्रकार प्रयत्नपूर्वक रत्नों की मलिनता दूर की जाती है उसी प्रकार (सामायिक आदि) साधनों द्वारा आत्मा का मल दूर किया जाता है। हरिभद्र के अनुसार चन्द्र-प्रभा से केवलज्ञान का दृष्टान्त, दृष्टान्त मात्र है, सच्चे अर्थ में पूर्ण दृष्टान्त नहीं है।

इकतीसवें 'तीर्थकृद्देशनाष्टकम्' में तीर्थङ्कर की धर्मदेशना का प्राणियों पर प्रभाव और उसके द्वारा धर्मदेशना में प्रवृत्त होने के कारणों पर विचार किया गया है। तीर्थङ्कर नामकर्म के उदय के कारण ही वीतरागी होते हुए भी वे धर्मदेशना में प्रवृत्त होते हैं।

जगद्गुरु तीर्थङ्कर का मात्र एक वचन भी अनेक जीवों को एक साथ विविध वस्तुविषयक हितकारक प्रतीति कराता है। यदि अभव्य जीवों को जिनवचनों का सत्यार्थ घटित नहीं होता तो उसमें अभव्य जीवों का ही दोष जानना चाहिए, भगवान् का नहीं। क्योंकि उलूक अपने कर्मों के कारण दिन में प्रकाश होने पर भी नहीं देख पाता है।

आठ के स्थान पर दस श्लोकों वाले बत्तीसवें 'मोक्षाष्टकम्' में मोक्ष का स्वरूप निरूपित है। इसमें विपक्षियों की इस युक्ति का भी निराकरण किया गया है कि आहारादि के अभाव में सिद्धों को सुख नहीं प्राप्त हो सकता है। हरिभद्र का अभिमत है कि मोक्ष परमसुख से समन्वित है, कभी दुःखमिश्रित नहीं होता और उत्पत्ति के पश्चात् क्षय को प्राप्त नहीं होता है।

इस प्रकार संक्षेप में इस कृति का प्रतिपाद्य प्रस्तुत है।

'अष्टकप्रकरण' में सभी प्रकरण एक स्वतन्त्र इकाई हैं, फिर भी वे परस्पर सम्बद्ध माने जा सकते हैं, क्योंकि सभी प्रकरण जैन आचार के व्यावहारिक पक्ष का निरूपण करते हैं, श्रमण एवं श्रावक वर्ग - दोनों को सदाचारी बनाने, सूक्ष्म बुद्धि से आगमों के अनुरूप अपने आचार और विचार का परीक्षण करने की शिक्षा देते हैं। इन प्रकरणों में जैनेतरों द्वारा जिन धर्म की कतिपय मान्यताओं के सम्बन्ध में प्रस्तुत विप्रतिपत्तियों का भी हरिभद्र ने निराकरण किया है।

अष्टकप्रकरण की एक अन्य प्रमुख विशेषता इसके प्रकरणों का संक्षिप्त होना है। आचार्य द्वारा प्रत्येक प्रकरण को आठ श्लोकों तक सीमित रखा गया है। आठ श्लोकों की मर्यादा कभी-कभी विषय को स्पष्ट करने में बाधक बन जाती है, जो सङ्गत नहीं प्रतीत होता है। इतना होते हुए भी यह प्रकरण आचार्य हरिभद्र की प्रतिभा से उद्भूत एक बहुमूल्य कृति है।

अष्टकप्रकरणम् के उद्धरण एवं उनके स्रोत

आचार्य हरिभद्र ब्राह्मण परम्परा के उच्चकोटि के विद्वान् थे। जैन-धर्म अङ्गीकार करने के पश्चात् वे जैन-परम्परा के भी शीर्षस्थ विद्वान् हो गये। दोनों परम्पराओं का गम्भीर एवं गहन ज्ञान, स्वाभाविक रूप से जैनेतर एवं जैन परम्पराओं के क्रमशः खण्डन-मण्डन में महान् बरदान सिद्ध हुआ। महान्

प्रतिभा से युक्त, विभिन्न परम्पराओं ही नहीं वरन् विभिन्न विधाओं का उनका प्रशस्त ज्ञान, विभिन्न विषयों पर शाश्वत महत्त्व का विपुल साहित्य प्रसूत करने में कारक बना।

अष्टकप्रकरण में भी जैन दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए एवं जैनेतर मत का खण्डन करते हुए आचार्य ने जैन, वैदिक और बौद्ध प्राचीन ग्रन्थों से उनके मतों को अत्यन्त सहजता से अथवा इच्छानुसार प्रचुर मात्रा में उद्धृत किया है या उनका सन्दर्भ दिया है। इस प्रक्रिया में कई उद्धरण एवं सन्दर्भ प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से **अष्टकप्रकरण** में उपलब्ध होते हैं। हरिभद्र ने कुछ श्लोकों एवं गायत्रियों को कर्त्ता के नाम-सङ्केत के साथ उद्धृत किया है, जैसे — **न्यायावतार** के प्रसङ्ग में महामति* (सिद्धसेन दिवाकर) और **महाभारत** के प्रसङ्ग में महात्मना* (महर्षि व्यास), तो कुछ सन्दर्भों को ग्रन्थ-शीर्षक के साथ उद्धृत किया है जैसे — **शिवधर्मोत्तरपुराण*** और **लङ्कावतारसूत्र*** (सद्धर्मलङ्कावतारसूत्र)। लेकिन ऐसे उद्धरणों या सङ्केतों की बहुलता है जिनमें कर्त्ता और ग्रन्थ-नाम दोनों के सङ्केत प्रायः 'जिनागमो'*, 'सूत्रमित्यादि'*, और 'सूत्रे'*, इन शब्दों के साथ किये गये हैं।

यहाँ 'अष्टकप्रकरण' में उपलब्ध कुछ उद्धरणों, सन्दर्भों या सङ्केतों के मूल स्रोतों के अन्वेषण एवं विश्लेषण का प्रयास है। इस दिशा में आगे बढ़ने से पूर्व 'अष्टकप्रकरण' के महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९४१ संस्करण के सम्पादक खुशालदास जगजीवनदास के प्रयासों का उल्लेख आवश्यक है। यद्यपि उन्होंने सभी उद्धरणों का व्यवस्थित रूप से स्रोत ढूँढ़ने का प्रयास नहीं किया है फिर भी उनका प्रयास उल्लेखनीय है।

अष्टकप्रकरण के उद्धरणों एवं सन्दर्भों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि आचार्य हरिभद्र ने प्रसङ्गवश **वाल्मीकि रामायण**, **महाभारत**, **मनुस्मृति**, **विष्णुस्मृति**, **शिवधर्मोत्तरपुराण** आदि वैदिक परम्परा के ग्रन्थों, **आचाराङ्ग**, **व्याख्याप्रज्ञप्ति-भगवती**, **कल्पसूत्र**, **आवश्यकनिर्युक्ति**, **न्यायावतार**, **विशेषावश्यकभाष्य** आदि जैन-परम्परा के ग्रन्थों तथा बौद्ध ग्रन्थ **लङ्कावतारसूत्र** आदि से उद्धृत किया है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं **अष्टकप्रकरण** में मात्र **शिवधर्मोत्तर** और **लङ्कावतारसूत्र** ग्रन्थों का ही शीर्षक के साथ उल्लेख है, अन्य स्रोत-ग्रन्थों को ज्ञात करना पड़ता है।

अष्टकप्रकरण* में प्रथम उद्धरण 'अग्निकारिकाष्टकम्' में प्राप्त होता है। जैनेतरों द्वारा कृत पूजा, आहुति आदि को सांसारिक उपलब्धियों का ही साधन बताते हुए हरिभद्र ने निरूपित किया है कि परम लक्ष्य मोक्ष,

ज्ञान और ध्यान का फल है। यह आहुति आदि से कभी सम्भव नहीं है। उक्त विषय का प्ररूपण करने वाला अष्टकप्रकरण का श्लोक तथा अपने पक्ष के समर्थन में आचार्य द्वारा शिवधर्मोत्तरपुराण के श्लोक के रूप में उद्धृत श्लोक निम्नवत् हैं —

दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता ज्ञानध्यानफलं च स ।

शास्त्र उक्तो यतः सूत्रं शिवधर्मोत्तरे हृदः ॥ ४/२ ॥

पूजया विपुलं राज्यमग्निकार्येण सम्पदः ।

तपः पापविशुद्ध्यर्थं ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥ ४/३ ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य ने इस श्लोक की रचना, शिवपुराण^१ में प्राप्त तद्विषयक तथ्यों के आधार पर स्वयं की है, क्योंकि यह श्लोक उक्त ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हो सका। यद्यपि 'शिवपुराण' में 'कोटिरुद्रसंहिता' वर्ग में ४१वें अध्याय के संवर्ग १७-१९ और 'उमा-संहिता' के १२वें अध्याय में इस श्लोक की विषय-वस्तु उपलब्ध है। सम्भव है हरिभद्र के समक्ष या उस काल में उपलब्ध शिवपुराण के कुछ संस्करणों में यह श्लोक रहा हो।

पुनः इसी अष्टक के छठे श्लोक में यह प्रतिपादित करने के लिए कि पहले पाप में प्रवृत्त होकर पुनः उसके प्रक्षालन हेतु दयादानादि में संलग्न होने की अपेक्षा पाप से दूर रहना ही श्रेयस्कर है; हरिभद्र ने महाभारत^२, वनपर्व से इस श्लोक को (चोक्तं महात्मना) उद्धृत किया है —

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यानीहा गरीयसी ।

प्रक्षालनाद्धि पङ्क्तस्य दूरादस्पर्शनिं वरम् ॥ ४/६ ॥

१३वें 'धर्मवादाष्टकम्' में हरिभद्र ने प्ररूपित किया है कि धर्मावलम्बियों को धर्म का तत्त्वतः विचार करना चाहिए, परन्तु उनके द्वारा प्रमाण के लक्षण का विचार युक्तिसङ्गत नहीं है। अपनी इस मान्यता के समर्थन में आचार्य 'न्यायावतार' की इस कारिका को उद्धृत (तथा चाह महामतिः) करते हैं। हरिभद्र के मत का प्ररूपक श्लोक^३ और महामति सिद्धसेन दिवाकर की कारिका^४ निम्नवत् है —

धर्मार्थिभिः प्रमाणादेर्लक्षणं न तु युक्तिमतम् ।

प्रयोजनाद्यभावेन तथा चाह महामतिः ॥ १३/४ ॥

प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः ।

प्रमाणलक्षणास्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥ १३/५ ॥

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि व्याघ्रवतार को सिद्धसेन की रचना मानने के प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद नहीं है। जैन विद्वानों के शीर्षस्थ विद्वान् प्रो० मधुसूदन ढाकी इसे सिद्धसेन दिवाकर की कृति नहीं मानते हैं।

अष्टकप्रकरण में क्रमाङ्क १७ से २० प्रकरणों में 'मांसभक्षण, मद्यपान और मैथुन में दोष नहीं है' — वैदिक मतावलम्बियों के इस मत का निराकरण किया गया है। मांस-भक्षण के सम्बन्ध में उक्त मत का निराकरण करने के क्रम में हरिभद्र ने पहले मनुस्मृति के इस श्लोक को प्रस्तुत किया है —

न मांस भक्षणे दोषः न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ १८/२ ॥

तत्पश्चात् मनुस्मृति^{१३} में ही उपलब्ध श्लोकों के आधार पर उनकी इन मान्यताओं का निराकरण किया है। हरिभद्र ने स्मृति के श्लोकों को उद्धृत कर यह दर्शाया है कि उनका मत युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि स्मृति में भी इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी उल्लेख उपलब्ध हैं। हरिभद्र द्वारा उद्धृत श्लोक निम्नलिखित हैं —

मांसं भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहादम्यहम् ।

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १८/३ ॥

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।

यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव वाऽत्यये ॥ १८/५ ॥

उपरोक्त दोनों श्लोकों में से एक में स्मृतिकार ने मांस-भक्षण करने वालों को स्पष्ट चेतावनी दी है कि ऐसा करने वालों का मांस, दूसरे जन्म में वे जीव खायेंगे जिनका मांस उन्होंने इस जन्म में खाया है।

इसके विपरीत स्वयं स्मृतिकार ही उसी अध्याय में मांस-भक्षण से अस्वीकार करने का फल निरन्तर इक्कीस जन्मों तक पशु-योनि में जन्म लेना बताते हैं। अष्टकप्रकरण^{१४} (१८/७) में स्मृति से उद्धृत उक्त श्लोक निम्नलिखित है —

यथाविधि नियुक्तस्तु यो मांसं नास्ति वै द्विजः ।

स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम् ॥

इस तरह मांस-भक्षण से अस्वीकार करने पर निरन्तर पशु रूप में उत्पन्न होने का भयङ्कर फल 'निवृत्तिस्तु महाफला' को अप्रासङ्गिक बना देता है। निवृत्ति, अर्थात् मांस-भक्षण आदि के त्याग का भयावह परिणाम लोगों

को मांस-भक्षण की प्रवृत्ति की ओर उन्मुख करेगा।

हरिभद्र ने 'न मांसभक्षणे दोषः' में अन्तर्निहित विरोधों को सामने लाने के लिए 'निवृत्तिस्तुमहाफला' अर्थात् मांस-भक्षण से निवृत्ति महाफल वाली है — इस पद का खण्डन किया। निवृत्ति से अभिप्राय है पूर्व में प्रवृत्त कर्म से विरत होना। परन्तु जैन श्रमण, जिनके लिए मांसाहार पहले से ही पूर्णतया निषिद्ध है, उनके प्रसङ्ग में मांस-भक्षण से निवृत्ति घटित न होने से वे महाफल से वञ्चित रह जायेंगे, इस स्थिति में यह उक्ति 'निवृत्तिस्तुमहाफला' युक्तिसङ्गत नहीं है।

उल्लेखनीय है कि उपरोक्त श्लोक 'यथाविधि' (१८/७) के पूर्वाद्ध का पाठ मनुस्मृति^{१५} के पाठ से भिन्न है जो इस प्रकार है —

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नास्ति मानवः ॥ ५/३५ ॥

'न मांसभक्षणे दोषः' का खण्डन करने के लिए हरिभद्र ने बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ लङ्कावतारसूत्र^{१६} अपर नाम सद्धर्मलङ्कावतारसूत्र को भी उद्धृत किया है —

शास्त्रे चाप्तेन योऽप्येतन्निषिद्धं यत्नतो ननु ।

लङ्कावतारसूत्रादौ ततोऽनेन न किञ्चन ॥ १७/८ ॥

इसमें भगवान् बुद्ध ने मांसाहार का निषेध इस प्रकार किया है —

मद्यं मांसं पलाण्डुं न भक्षयेयं महामुने ।

बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैर्भावद्भिर्जिनपुङ्गवैः ॥

१/८ मांसभक्षण परावर्त

उपरोक्त उद्धरणों के आलोक में यह स्पष्ट हो जाता है कि हरिभद्र ने वैदिक ग्रन्थों के आधार पर ही 'न मांसभक्षणे दोषः' इस उक्ति में अन्तर्निहित विरोधों को सफलता से रेखाङ्कित किया है।

'न मांसभक्षणे दोषः' का खण्डन करने के पश्चात् 'न च मैथुने' अर्थात् 'मैथुन में दोष नहीं है' का निराकरण करने के लिए हरिभद्र ने जैन अङ्ग आगम भगवती^{१७} में प्राप्त दृष्टान्त को उद्धृत किया है। अष्टक-प्रकरण^{१८} में उक्त दृष्टान्त का सङ्केत निम्न रूप से है —

प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रे गीतं महर्षिभिः ।

नलिका तप्तकणक प्रवेशं ज्ञाततस्तथा ॥

हरिभद्र द्वारा उद्धृत भगवती का वह दृष्टान्त इस प्रकार है —
केई पुरिसे रुयनालियं वा बरनालियं वा तत्तेण कणएणं समभिन्दसेज्जा ।

वही दृष्टान्त अमृतचन्द्रसूरि (९-१० शताब्दी) कृत पुरुषार्थ-सिन्धुपाय^{१९} के निम्न श्लोक में भी उपलब्ध है —

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।

बहवो जीवा योनी हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥

‘सूक्ष्मबुद्ध्याश्रयणाष्टकम्’ में भी हरिभद्र निरूपित करते हैं कि प्रतिज्ञा या अभिग्रह अङ्गीकार करते समय उसके भाव या यथार्थ का सम्यक् परीक्षण अनिवार्य है । परीक्षण के अभाव में परहित-कामना दूसरों के अहित की कमाना में परिणत हो सकती है । इस अभिग्रह को स्पष्ट करने के लिए हरिभद्र ने एक दृष्टान्त दिया है, जिसके अनुसार एक श्रमण यह अभिग्रह धारण करता है कि वह किसी रुग्ण को औषध दान करेगा । इस अभिग्रह का निहितार्थ यह है कि इसे पूर्ण होने के लिए किसी का रुग्ण होना अनिवार्य है । किसी के रुग्ण होने की कामना, किसी भी स्थिति में वाञ्छनीय नहीं है । हरिभद्र किसी भी सङ्कल्पित कृत्य या इच्छा के निहितार्थ का उचित-अनुचित विवेक भली प्रकार से करने का उपदेश देते हैं । अपने तर्क के समर्थन में वे रामायण^{२०} से एक प्रसङ्ग उद्धृत करते हैं, जिसमें राम कामना करते हैं कि राम पर किये गये उपकारों का प्रतिदान करने की उनकी भावना उनके अङ्गों में ही वृद्धावस्था को प्राप्त कर ले, क्योंकि उपकारी, उपकृत के प्रत्युपकार का फल तभी प्राप्त कर सकता है जब वह स्वयं (उपकारी) विपत्ति में पड़े । इस प्रकार उपकृत द्वारा उपकारी का उपकार करने की भावना वस्तुतः उपकारी के अहित-चिन्तन में परिवर्तित हो जाती है, जो सम्यक् नहीं है । अष्टकप्रकरण में उद्धृत और रामायण (उत्तरकाण्ड) में प्राप्त यह श्लोक निम्नवत् है —

अङ्गेष्वेव जरां यातु यत्त्वयोपकृतं मम ।

नरः प्रत्युपकाराय विपत्सु लभते फलम् ॥

अङ्गेष्वेव जरां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे ।

नरः प्रत्युपकाराणामापत्सु लभते फलम् ॥

उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत श्लोक रामायण के प्रायः सभी संस्करणों में अनुपलब्ध है । मात्र ‘कुम्भकर्णसंस्करण’ में ही उपलब्ध है ।

इस श्लोक का प्रसङ्ग भी रामायण^{२१} और जिनेश्वरसूरि विरचित ‘अष्टकप्रकरणवृत्ति’^{२२} में भिन्न-भिन्न है । रामायण (कुम्भकर्ण संस्करण) में यह श्लोक हनुमान के प्रति राम के उद्गार का प्ररूपक है, जबकि ‘अष्टकप्रकरणवृत्ति’ में तारा को प्राप्त करने में राम की सहायता के उपलक्ष्य में सुग्रीव यह उद्गार व्यक्त करते हैं ।

सम्भव है वृत्तिकार के समक्ष ऐसा कोई रामायण-संस्करण रहा हो जिसमें यह श्लोक सुग्रीव प्रसङ्ग में प्राप्त हुआ हो या यह भी हो सकता है कि वृत्तिकार का सूचना-स्रोत ही त्रुटिपूर्ण रहा हो ।

पच्चीसवें, 'पुण्यानुबन्धिपुण्यप्रधानफलाष्टकम्'^{१३} में हरिभद्र महावीर के उस सङ्कल्प को उद्धृत करते हैं जिसमें महावीर ने माता-पिता के जीवन-पर्यन्त या उनके गृहवास करने तक गृहस्थवास का त्याग न करने का अभिग्रह धारण किया था -

जीवितो गृहवासेऽस्मिन् यावन्मे पितराधिपौ ।

तावदेवाधिवत्स्यामि गृहानहमपीष्टतः ॥ २५/४ ॥

इस तथ्य का प्रतिपादक एक सूत्र और गाथा क्रमशः कल्पसूत्र^{१४} और विशेषावश्यकभाष्य^{१५} में भी है, जो निम्नवत् है —

नो खलु मे कम्पइ अम्मापिऊहिं जीवन्तेहिं मुंडे ।

भविता अगाराओ अणगारिअं पक्वइत्तए ॥

अह सत्तमम्मि मासे गढ्भत्थो चेव अभिग्गहं गिण्हे ।

गहं सम्पण्णे होइ अम्मापियरम्मि जीवन्ते ति ॥

इस घटना को भलीभाँति समझने के लिए प्रसङ्ग को जानना आवश्यक है । विपक्षियों का तर्क है कि मोक्षमार्ग रूपी परम लक्ष्य की साधना करने वाले के लिए दया, दान या आत्मीयजनों के वैयावृत्य — सेवाभाव का क्या प्रयोजन है ? हरिभद्र इन आशङ्काओं को निर्मूल बताते हुए कहते हैं कि सत्कार्य और गुरुजनों के वैयावृत्य से मोक्ष और उससे भी बढ़कर तीर्थङ्करत्व का महान् फल प्राप्त होता है । इसी प्रसङ्ग में आचार्य ने महावीर द्वारा वर्तमान भव में गर्भकाल में अभिगृहीत माता-पिता के वैयावृत्य के सङ्कल्प को उद्धृत कर यह निरूपित किया है कि वे भव के आरम्भ से ही पुण्यानुबन्धि सत्प्रवृत्तियों में संलग्न थे ।

महावीर द्वारा प्रव्रज्या के समय दिये गये दान के सम्बन्ध में बौद्धों का तर्क है कि महावीर का उक्त दान संख्य है अतः उसे महादान की संज्ञा नहीं दी जा सकती है । जैनागमों (मूलमित्यादि) आचाराङ्ग^{१६} और आवश्यक-निर्युक्ति^{१७} में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है —

एगा हिरण्ण कोडी अट्ठेव अण्णया सय सहस्सा ।

तिण्णोव च कोडिसता अट्ठासीति च होति कोडीओ ।

असीति च सत्सहस्सा एतं संवच्छरे दिण्णे ॥

तिन्नेव य कोडीसया अट्टासीइ च होइ कोडीओ ।
असीइ च सयसहस्सा एयं स्वच्छरे दिण्णं ॥

बौद्धों की इस मान्यता का खण्डन करते हुए हरिभद्र ने बताया है कि महावीर के दान की महानता उनकी इस घोषणा 'दान माँगो, दान माँगो'^{१८} (वरवरिकातः) में निहित है। 'वरवरिका' का यह तथ्य आवश्यक-निर्युक्ति^{१९} में प्राप्त होता है —

महादानं हि संख्यावदर्थ्यभावाज्जगद्गुरोः ।
सिद्धं वरवरिकातस्तस्याः सूत्रे विधानतः ॥ २६/५ ॥
वरवरिआ घोसिज्जइ किमिच्छअं दिज्जए बहुविहीउ ।
सुरअसुरदेवदाणवनरिंदमहिआण निक्खमणे ॥

उन्तीसवें 'सामायिकनिरूपणाष्टकम्' में हरिभद्र सामायिक युक्त साधकों की तुलना चन्दन से करते हैं जो उस (चन्दन) को काटने वाली कुल्हाड़ी को भी सुवासित कर देते हैं। कर्त्ता के रूप में रविगुप्त के नाम से उल्लिखित यह दृष्टान्त 'सुभाषितरत्नभाण्डागारम्'^{२०} में भी संगृहीत है —

सुजनो न याति वैरं परहितनिरतो विनाशकालेऽपि ।
छेदऽपि चन्दन तरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥

जिनेश्वरसूरि कृत अष्टकवृत्ति^{२१} में भी इस दृष्टान्त से सम्बद्ध दो उद्धरण उपलब्ध हैं —

अपकार परेऽपि परे कुर्वन्त्युपकारमेव हि महान्तः ।
सुरभिं करोति वासीं मलयजमणि तक्ष्यमाणमपि ॥
यो मामपकरोत्येष तत्त्वेनोपकरोत्यसौ ।
शिरामोक्षाद्युपायेन कुर्वाण इव नीरुपम् ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने विषय-प्रतिपादन के साथ-साथ जैन मान्यताओं के समर्थन एवं जैनेतर मत के खण्डन में जैन, बौद्ध और वैदिक ग्रन्थों के अपने उत्कृष्ट ज्ञान का सुन्दर एवं सम्यक् उपयोग किया है। उनके द्वारा उद्धृत गाथा, श्लोक दृष्टान्त आदि से विषय-प्रतिपादन प्रभावोत्पादक हो गया है।

सन्दर्भ

१. 'तथा चाह महामतिः', अष्टकप्रकरण, प्रकरण १३/श्लोक ४, सम्पादक एवं गुजराती अनुवादक खुशालचन्द, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९४१ ।

२. 'तथा चोक्तं महात्मना', वही ६/४।
३. 'सूत्रं शिवधर्मोत्तरे ह्यदः', वही, ४/२।
४. 'लङ्कावतारसूत्रादौ', वही, १८/७।
५. 'जिनागमे', वही, २५/८।
६. 'सूत्रमित्यादि', वही, २६/१।
७. 'सूत्रे', वही, २६/५।
८. वही, ४/२-३।
९. शिवपुराण, दो भाग, हिन्दी टीका सहित, टीकाकार पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, बम्बई, सन् १९९६।
१०. महाभारत, वनपर्व, अध्याय २, श्लोक ४९, गीता प्रेस, गोरखपुर, पञ्चम संस्करण, १९८८।
११. अष्टकप्रकरण, १३/४।
१२. न्यायावतार, सिद्धसेन दिवाकर, कारिका २, सम्पादक एस० आर० बनर्जी, संस्कृत डिपो प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता।
१३. मनुस्मृति, श्री टीका, केशव प्रसाद शर्मा द्विवेदी, बम्बई, १९२०।
१४. अष्टकप्रकरण, १८/७।
१५. मनुस्मृति, वही।
१६. सद्धर्मलङ्कावतारसूत्र, सम्पादक पी० एल० वैद्य, बुद्धिस्त संस्कृत सीरीज़, टेक्स्ट नं० ३, मिथिला इंस्टीट्यूट ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज ऐण्ड रिसर्च इन संस्कृत लर्निंग, दरभंगा १९६३, पृ० १०४।
१७. व्याख्याप्रज्ञप्ति, प्रथम भाग २/५/८९, सम्पादक मधुकर मुनि, जिनागम ग्रन्थमाला, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
१८. अष्टकप्रकरण, २०/७।
१९. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अमृतचन्द्रसूरि, अध्याय ४, श्लोक १०८, सम्पादक अजित प्रसाद, जे० एल० जैनी मेमोरियल सीरीज़ ६, सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ १९३३।
२०. अष्टकप्रकरण, २१/६।
२१. रामायण, उत्तरकाण्ड, सम्पादक यू० पी० शाह, ओ० आई० बड़ौदा, १९७५, पाद-टिप्पणी, पृ० २१०।
२२. 'किल सुग्रीवेण तारावाप्तौ रामदेव एवमुक्तः', अष्टकप्रकरणवृत्ति, जिनेश्वर, जैन ग्रन्थ प्रकाशक समिति, राजनगर, १९३७, २१/६।

२३. अष्टकप्रकरण, २५/४।
२४. कल्पसूत्र (अनु० ९१), सम्पादक म० विनयसागर, प्राकृत भारती, पुष्पाङ्क एक, प्राकृत भारती, जयपुर, १९८४।
२५. विशेषावश्यकभाष्य, भाग १, गाथा ५९, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, बम्बई १९७२।
२६. आचाराङ्ग (दि० श्रु०), २/३/१५/११३, सम्पादक मधुकर मुनि, जिनागम ग्रन्थमाला २, आगम प्रकाशन समिति, न्यावर, १९८०।
२७. आवश्यकनिर्युक्ति, भाग १, गाथा २२०, भेरुलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, बम्बई, १९८१।
२८. अष्टकप्रकरण, २६/५।
२९. आवश्यकनिर्युक्ति, २१९, बम्बई।
३०. सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९३५, पृ० ४७, श्लोक ११०।
३१. अष्टकप्रकरणवृत्ति, २९/१।

Aṣṭaka-Prakarāṇa : An Introduction

Ācārya Haribhadra, one of the most prominent Jaina Ācārya and the most prolific writer was born in Cittauḍa or a place nearby. Very scanty informations are available about his life. As established by Muni Jinavijayaji, it is generally agreed that he lived between 753 to 827 A. D. His mother was Gaṅgābāi and his father was Śaṅkara Bhaṭṭa. He was Brahmin by caste. He became royal priest of the king Jitari of Cittauḍa. He had vowed that he would become the pupil of him or her whose sayings he would not comprehend. The well-known dramatic incidence of his life, of not fully grasping the Prākṛta Gāthā, recited by Yākinī Mahattarā, a Jaina nun, made him the disciple of a Jaina monk Jinabhaṭṭasūri.

This change over of a Great scholar, Royal priest and above all a rudite Brahmin, was not merely a change of faith but was a new birth to him. Infact, it was a spiritual rebirth which gave a new direction to his life and thought. He was transformed totally but he retained all, that was best in him alongwith his previous thoughts and beliefs. The new impact of Jainism made him more inclined to devote all his might and main to philosophic and religious pursuits.

His works are testimony to his genius and mainly consist of religious stories, philosophical treatises, discourses, exhortations on right conduct and on Yoga. He has composed a number of Prakarāṇa works also, viz., *Aṣṭaka-prakarāṇa*, *Ṣoḍaśaka-prakarāṇa*, *Vimśativimśikā* and *Pañcāśaka-prakarāṇa* also.

Presently, the subject-matter, in brief, of *Aṣṭaka-prakarāṇa*, composed in Samskr̥ta, containing 258 verses, is being given. It is a compendium of 32 prakaraṇas dealing with different topics. Each contains eight verses hence *Aṣṭaka*, except, last 32nd which contains 10 verses. The title of the *Aṣṭakas* are :

(1) *Mahādevāṣṭakaṃ*, (2) *Snānāṣṭakaṃ*, (3) *Pūjāṣṭakaṃ*,

(4) *Agnikārikāṣṭakam*, (5) *Bhikṣāṣṭakam*, (6) *Sarvasampatkārī-bhikṣāṣṭakam*, (7) *Pracchannabhojanāṣṭakam*, (8) *Pratyākhyān-āṣṭakam*, (9) *Jñānāṣṭakam*, (10) *Vairūgyāṣṭakam*, (11) *Tapāṣṭakam*, (12) *Vādāṣṭakam*, (13) *Dharmavādāṣṭakam*, (14) *Ekanītyapakṣa-khaṇḍanāṣṭakam*, (15) *Anītyapakṣakhaṇḍanāṣṭakam*, (16) *Nītyā-nītyapakṣamaṇḍanāṣṭakam*, (17) *Mūṁsabhakṣaṇadūṣaṇāṣṭakam*, (18) *Māṁsabhakṣaṇadūṣaṇāṣṭakam*, (19) *Madyapānadūṣaṇāṣṭakam*, (20) *Maithunadūṣaṇāṣṭakam*, (21) *Sūkṣmabuddhyāśraya-nāṣṭakam*, (22) *Bhāvaśuddhivicārāṣṭakam*, (23) *Śāsanamālīnya-niṣedhāṣṭakam*, (24) *Puṇyānubandhipuṇyādivivaraṇāṣṭakam*, (25) *Puṇyānubandhipuṇyaphalāṣṭakam*, (26) *Tīrthakṛddānamahattva-siddhyāṣṭakam*, (27) *Tīrthakṛddānanīṣphalatāparihārāṣṭakam*, (28) *Rājyādidānepitīrthakṛtadoṣabhāvapratipadanāṣṭakam*, (29) *Sāmā-yikasvarūpanirūpaṇāṣṭakam*, (30) *Kevalajñānāṣṭakam*, (31) *Tīrtha-kṛddeśaṇāṣṭakam* and (32) *Mokṣāṣṭakam*.

In the first, *Mahādevāṣṭakam* Ācārya Haribhadra describes the virtues, good deeds and mode of worship of great Lord (Mahādeva). He is free from attachment, hatred, passions and miserable Karma-particles. The Great Lord is Omniscient, calm and intelligent. He possesses eternal bliss and is venerable for all the deities. To practise, according to canons, is the best and only mode of his worship. His sermons are bound to annihilate the birth-cycle.

The second *Snānāṣṭakam* deals with bathing or ablution. Bathing is of two types — physical and mental, categorised as external and spiritual in non-Jaina systems. Physical bathing causes purity of partial body only and that too, merely, for a few moments. It is the instrumental cause of mental bath. Physical bath, of householders, followed by worship of deities and monks, is auspicious. This bath is prohibited for monks who are preached to perform mental bath with meditation like water. Real bather is the one, wholly free from impurity and not sticking to it again.

The third, *Pājāṣṭakam* deals with two-fold worship — impure and pure, means of heaven and salvation (svarga and

mokṣa), respectively. The former is performed with flowers of Jasmynes etc. and is the cause of auspicious bondage while the pure worship is performed with eight abstract flowers, viz., non-violence, truth, non-stealing, celibacy, non-possession, devotion of teacher, penances and cognition. By pure worship, modes of soul, become auspicious, which ultimately leads to salvation.

In the fourth, *Agnikārikāṣṭakam*, fire has been depicted two-fold as sacrificial and spiritual or psychic. Monks are preached to kindle the spiritual fire with analytic meditation and fuel of *karmas*. Initiation is the cause of salvation. Good fortunes attained by sacrificial fire beget sin. Haribhadra refutes others contention that sin is annihilated by charity. He opines that sin is destroyed only by penances. According to Ācārya, practising the path of liberation, generally, yields more auspicious and sinless fortunes, in form of right faith, knowledge and conduct (*samyag darśana, jñāna and cārīṇa*).

Fifth, *Bhikṣāṣṭakam* deals with three-fold beggings — *Sarvasampatkārī*, *Pauruṣaghñī* and *Vṛttibhikṣā*. The first one brings all types of fortunes of this world and the next. The second *Pauruṣaghñī* is manhood or virile destroying and the third *Vṛttibhikṣā* is the begging for livelihood. That of an ideal monk, made for *Sthaviras* — elder monks etc., is the first one and is likely to bring glory to Jina-order. That of a monk, practising vicious and violent-ridden conduct for supporting his life, is categorised as *Pauruṣaghñī* and is bound to cause disgrace to Jina-order. The third one, *Vṛttibhikṣā*, is the begging by those poor, blind and crippled ones, unable to carry on with other activities of livelihood. It is considered better than *Pauruṣaghñī*.

The sixth, *Sarvasampatkaribhikṣāṣṭakam* deals mainly with refutation of opponents' view that virtuous food is not at all practical. Opponents maintain that unavailability of virtuous food, essential for ideal begging of monks, also mars the attainment of Omniscience. As in the absence of virtuous food, the conduct of monks can never be virtuous and this eventually results in the

negation of Omniscience itself. Acārya Haribhadra establishes the feasibility of virtuous food and thus the attainment of Omniscience.

The seventh, *Pracchannabhojanāṣṭakaṃ*, describes that taking food by monks, in open, is not proper. A monk should always take food unobserved or in private. Monk's taking food in open is harmful in both ways. In case, he offers food to beggars etc. he would bind auspicious bondage. His denial is likely to invite beggar's hostility towards Jina-order. To avoid this, a monk should always take food in private, an ideal option for him (monk).

The eighth, *Pratyākhyānāṣṭakaṃ*, depicts it (repudiation) as two fold : physical as well as mental. Physical repudiation is observed with worldly aspirations. But this (worldly) aspiration, in any form, is discarded in the mental one. There are certain obstacles in the observance of mental repudiation such as worldly desires etc. Repudiation of non-liberatable ones, aiming at super attainments is, infact, not mental repudiation. Repudiation should be observed duly with proper rituals, otherwise, its effect may be adverse. It is not auspicious if it lacks discretion, devotion to Jina-order and is augmented by desire for salvation. Physical repudiation occurs due to the rise of miserable karman and want of immense virility. The conduct of one, observing mental repudiation would naturally become right.

The ninth, *Jñānāṣṭakaṃ* depicts knowledge as three-fold : objective knowledge, subjective knowledge and the realization of reality. The first one may be compared with that of an infantine about poison etc. It is the cause of great sin. The second, subjective knowledge, is the knowledge of one, subdued by sins. It is also vilified by evils etc. The conduct of one possessing this knowledge is righteous. It causes auspicious bondage and often leads to renunciation. The realization of reality is related to the tranquil one, with righteous conduct. One's conduct, blessed with this conation, is pure. It is the determinant knowledge of undersirables etc. and the cause of emancipation.

The tenth, *Vairāgyāṣṭakaṃ* describes renunciation of three

types : mournful meditation, delusion-infested and imbued with right knowledge. The meditation caused by the loss of favourites etc. is mournful meditation. It leads, sometimes, to suicide etc. One's detachment from this world swayed by heretic dogmas, is delusion-infested renunciation. Contrary to these, if one renounces the world, on realisation that soul's affliction is due to the cycle of birth, it is renunciation in true sense, imbued with right knowledge. It ensues from the enlightened knowledge of Reals.

In the eleventh, *Tapāṣṭakam* Haribhadra refutes the opponent's contention, "austerity is nothing but affliction like that of an oxen etc." Against it, Ācārya argues that if we identify misery with penances, all the miserable creatures will become devout. According to Ācārya, their (opponent's) proposition also implies that all hellish beings would be considered great devouts and conversely, ascetics, blessed with the pleasure of tranquility, as non-devouts. Their view, that austerity, neither proved logically nor depicted in canons, is injurious to soul, is also refuted.

The twelfth *Vādāṣṭakam* categorises *Vāda* (Discussion or debate) as three-fold : Dry discussion, Disputation and Virtuous or Righteous Discussion. When a Jaina monk debates with extremely arrogant debator, hostile to Jina religion, it is Dry Discussion. In this debate if monk prevails, the subjugated one may take recourse to suicide etc. while the defeat of monk is likely to cause disgrace to the Jina-order.

The second type of debate, called Disputation, is predominated by trick or fallacy and futile reply. This debate is unadvisable to monk because victory by fair means is rare here. Lastly, that between a monk and an intelligent and impartial one, having knowledge of his sacred books, is called Righteous Debate.

According to the thirteenth *Dharmavādāṣṭakam* the topic or theme of the religious or virtuous debate is useful for emancipation. It comprehends the virtues, essential for religious conduct of respective systems, i.e., Jaina, Buddha, Sāṅkhya, Vaiśeṣika etc. Ācārya suggests that discussion on the definition of valid know-

ledge etc. is futile. The real nature of objects, as preached by seers etc. ought to be contemplated, vigilantly and impartially by righteous and religious ones.

The fourteenth, '*Ekāntanītyapakṣakhaṇḍanāṣṭaka*' refutes the absolute view of exclusively eternal soul advocated by some systems. According to Ācārya, soul being inert, violence etc. are not applicable therein. It implies that non-violence, truth etc. also do not occur in the soul, as postulated by them. Again, this negation of violence etc., in turn, led to the negation of all *Yamas* and *Niyamas*. Ultimately, association of the body with absolutely eternal soul is also proved illogical. In the same way, that of soul's all-pervasiveness or omnipresence, makes its world-cycle untenable.

In fourteenth and fifteenth *Nītyapakṣakhaṇḍanāṣṭakam* and *Anītyapakṣakhaṇḍanāṣṭakam*, respectively, Ācārya Haribhadra refutes the postulates of those considering soul as absolutely eternal, permanent, inert etc. as well as of those contemplating soul as absolutely impermanent etc.

In the sixteenth *Nītyānītyapakṣamaṇḍanāṣṭakam*, Haribhadra propounds that in the soul, of permanent-cum-changeable nature and identical-cum-different from body, violence etc. do occur. Though main cause of violence is the fruition of one's karman yet killer is the efficient cause. The act of violence is carried out due to agitation in mind. Vicious feeling is subsided by righteous preaching etc. and by auspicious disposition of mind. Ācārya further maintains that eternal-cum-changeable etc. nature of soul is established by memory, retention, tangibility and also by tradition.

Both seventeenth and eighteenth *Aṣṭakas* are entitled as *Māṃsabhakṣaṇadūṣaṇāṣṭakam*. A verse occurred in *Manusmṛiti* depicts, that meat-eating, consuming liquor and coupulation is not sinful but abstention from it brings great rewards. In both of these *Aṣṭakas*, Haribhadra refutes the arguments put forward by advocates of meat-eating. The adherents of meat-eating, plead that as milk, the constituent of the body of cow and rice, the part of the

body of one-sensed sentient paddy etc. are eatable, in the same way meat also, being the limb of the body of cow, is eatable. Against this Haribhadra argues that in the world all the provisions, pertaining to edibles, and inedibles are made according to canons and common practices, hence, meat-eating is not justified on the ground of being a limb or the constituent of a creature only.

He further refutes their view by citing a verse from the *Manusmṛti* itself. Me he will devour in the next world, whose flesh, I eat in this (life). To the Ācārya, it is a clear decree forbidding meat-eating.

After refuting the view, meat-eating is not sinful, in the nineteenth *Madyapānaudūṣaṇāṣṭakaṃ*, Haribhadra contends that consuming of liquor is hazardous and is a mine of sins. He says that even telling its vices is futile because its vices and hazards are obvious. To illustrate, the fatal consequences of consuming liquor he cites an example, from Hindu Mythology, of a great sage (*Rṣi*) who fell in hell due to consuming liquor.

The twentieth *Maithunadūṣaṇāṣṭakaṃ* treats the last assumption of the verse of *Manusmṛti*, 'there is no sin in copulation'. Refuting it Haribhadra says that passion is the cause of sexual carnality. An activity caused by passion can never be sinless. The pious objective and special occasion prescribed for carnal intercourse in *Manusmṛti* itself is a proof that this activity is a rare one. He cites an instance given by great sages. This intercourse is the destroyer of creatures like penetration of heated rod into pipe. Therefore, intercourse is the cause of vices.

In this twenty-first *Sūkṣmabuddhyāśrayaṇāṣṭakaṃ* Haribhadra preaches to examine minutely, the propriety of the vow or volition before adapting it. Misapprehension or wrong comprehension is likely to mar the virtuous objective of vow. The defects of observing a vow without reflecting on its pros and cons is thus illustrated. A monk, having taken a vow to give medicine to some sick, is grieved if he does not find the object (sick monk) within stipulated period of vow. Otherwise, a situation of non-illness, is

ideal. Thus, a volited act of benevolence not thought of carefully may, in reality desire the harm of others. He preaches that the acts of charity etc. also should be carefully, performed completely in tune with canonical preachings.

The twenty-second *Bhāvaśuddhivicārāṣṭakam* describes that *Bhāvaśuddhi* or auspicious disposition of mind follows the path of liberation. It delights in the preachings of canons and is free from the prejudices. The rise, in the causes of impurity of mind, viz., attachments, hatred and delusion, makes the purity of mind, impossible. The subservience to or high respect towards enlightened one leads to the subsidence in delusion. This subservience to the more virtuous is the prime condition of attaining purity of mind. Ācārya says that a monk holding, the virtuous ones, in high esteem is likely to attain purity of mind.

The twenty-third *Śāsanamālīnyaniṣedhāṣṭakam* maintains that one should try his best not to malign the Jina-order. It (maligning) is the prime cause of sin. In maligning the Jina-order, even ignorantly, one becomes the cause of perversity in other creatures and is himself the subject to the bondage of intense deluding karman. On the contrary, the one, contributing in the elevation of Jina-order, thus being instrumental in the attainment of right faith by others, attains this himself which ultimately bestows the bliss of salvation.

The twenty-fourth *Puṇyānubandhipuṇyādivivaraṇāṣṭakam*, depicts that men should, by all means, practice virtuous deeds, causing auspicious bondage. It rewards non-decaying good fortunes. Ācārya maintains that because of the auspicious bondage one transmigrates to a better birth after the present one. On the contrary, inauspicious bondage causes more inauspicious birth after the present one. Auspicious bondage is the outcome of the purity of thought, which, in turn, is caused by adhering to canons and by obeying the elder monks.

In the twenty-fifth *Puṇyānubandhipuṇyaphalāṣṭakam*, Ācārya advocates that auspicious bondage is not detrimental in

pursuing the pure religion. Ācārya opines that such activities as the service of parents etc. is proper. It is, virtually, the excellent primary benediction of the renunciation. He goes to the extent of proclaiming that the auspicious bondage bestows the most excellent reward, i.e., seerhood.

This twenty-sixth *Tīrthakṛddānamahattvaśuddhyāṣṭakaṃ* aims at establishing that alms given by Mahāvīra, the 24th Tīrthāṅkara at the time of renunciation, may be categorised as Great. Some (Buddhists) contend that since alms of *Bodhisattvas*, depicted in Buddhist canons is innumerable, hence that may be categorised as Great. But, the amount of the alms made by Tīrthāṅkara being explicitly mentioned, it can not be termed as Great. Refuting them Ācārya claims that Seer's alms are magnanimous on two accounts, firstly, want of alms-seekers and secondly, his declaration, 'ask for alms, ask for alms'.

In the twenty-seventh *Tīrthakṛddānaniṣphalatāparihār-āṣṭakaṃ* opponent's contention is refuted. Tīrthāṅkara is likely to get emancipation in the same birth, hence, his act of charity is futile is refuted. Ācārya syas that charity is made by Great Souls because of their is compassionate disposition of mind. Infact, accumulated karmas are destructed due to this charity.

The twenty-eighth *Rājyādidāne'pi-tīrthakṛtadoṣabhāva-pratipādanāṣṭakaṃ* propounds that it is not proper to denounce the grant of state etc. to other (successor) because throne is full of great sins. Haribhadra maintains that, in case, state etc. is abandoned masterless, it will lead to chaos and ultimately to considerable loss of the life and property. Thus, grant of the state to others, is in the interest of the people. Ācārya also justifies marriage by Great souls.

The twenty-ninth, *Sāmāyikasvarūpanirūpaṇāṣṭakaṃ* depicts the nature and characteristics of equanimity (*Sāmāyika*). Those having attained equanimity resemble the Sandal, in nature. This (equanimity), of auspicious nature, should not be misunderstood with the magnanimity caused auspicious mind. The equani-

mous one is disinterested in wishing harm towards even ill-doer. Ācārya cites a volition, attributed to *Bodhisattvas*, "May all the vicious conduct of the world descent on me, and as an effect of my righteous conduct, all the worldly creatures, attain salvation. This volition is in the opinion of Haribhadra, a prayer by a house-holder for (attaining) enlightenment etc.

The thirtieth, *Kevalajñānāṣṭakam* depicts that soul, purified by equanimity and wholly free from destructive karmas, attains Omniscience, the illumination of the universe and the non-universe. The Omniscience, though intrinsic nature of soul, is covered with karmic impurity. This karmic impurity is to be eliminated in the same way, as the impurity of rays of gems removed through creating devices. Haribhadra also argues that analogy of moonlight with Omniscience is not a complete analogy.

This thirty-first, *Tīrthakṛddeśanāṣṭakam* narrates the effect of religious sermon on creature and the reason as to why Tīrthaṅkara is engaged in it (*deśanā*). Haribhadra says that the rise of *Tīrthaṅkaranāmakarma* causes even the detached *Tīrthaṅkara*, to be engaged in religious sermon.

A single speech of that Great soul (*Tīrthaṅkara*) is capable of illustrating simultaneously the path of welfare to the numerous living beings, as well as a multitude of subjects. If not-liberatable ones (*abhavyas*) are unable to comprehend his sermon, it is their fault, like the owls are unable to see the light.

The last one, *Mokṣāṣṭakam*, containing ten verses, instead of eight, describes the characteristics of liberation. It also refutes the contention of others that in the absence of food etc., emancipated ones can not attain bliss. Haribhadra says that liberation is blessed with absolute bliss, never mingled with miseries and is, never decayed after origination.

Thus *Aṣṭaka-prakarana*, contains topics, independent of each other and each of its *prakaraṇas* are an unit by itself. But these may be considered as inter-connected also because all of these deal with practical aspect of Jaina conduct and aim at teaching the

monks as well as laities to become righteous ones; examine their conduct and thought minutely in the light of provisions of canons. Haribhadra, tries to clear the misgivings, caused by wrong arguments of heretics, pertaining to some significant aspects of Jaina conduct. Another feature of this *Aṣṭaka-prakarāṇa* which attracts our attention is the self imposed brevity or condition of dealing one topic in eight verses only. We find that sometimes brevity is a handicap as it leads to the unintelligibility of the theme which can not be appreciated. But still this remains a very useful and valuable work of the genius Ācārya that is Haribhadra.

A Study of Extracts in *Aṣṭaka-prakarāṇa*

Haribhadra, an eminent scholar with the sound background of Brahmin tradition, after his conversion to Jaina faith, became authority in Śramanic tradition, too. His sound and deep knowledge of both traditions, as usual, proved to be great boon for him when he set upon to corroborate Jaina view-points, to refute those of others (heretics). His profound knowledge, of different traditions and multifarious disciplines, magnificently enriched by his genius, produced a great number of treatises of everlasting importance on the variety of subjects.

In *Aṣṭaka-prakarāṇa* also, most frequently, he quoted or referred to, with remarkable ease or rather at his will to support the Jaina view-point or refute that of heretics, from Jaina, Vedic and Buddhist texts. In the process scores of verses, references, occurred there in. He has cited some verses alongwith author's name such as *Mahāmati*¹ (Siddhasena Divākara), in case of *Nyāyāvatāra* and '*Mahātmanā*'² (*Maharṣi Vyāsa*), in case of *Mahābhārata*, some references with titles, e.g., *Śivadharmottara*³ and *Laṅkāvatāra-sūtra*⁴. But majority of the quotes or references occurred without divulging the both, i.e., the name of author and title. The quotations and references, from Jaina canons and exegetical literature, have been referred to as *Jināgame*⁵, '*Sūtramītyādi*'⁶ and '*Sūtre*'. Here is an attempt to trace and analyse the sources of these verses etc. quoted or referred to in *Aṣṭaka-prakarāṇa*.

Before proceeding, the effort of Mr. Khushaladas Jagajivana-
nadaṣa, the editor of Gujarati translation of *Aṣṭaka-prakarṇa*
brought out by Mahavira Jaina Vidyālaya, Bombay, 1941, must be
acknowledged. Though he did not find out the sources of all the
extracts and with full details yet his effort is commendable.

A study of these extracts etc. reveals that Haribhadra in this
text has cited from or referred to *Vālmiki Rāmāyaṇa*, *Mahābhārata*,
Manusmṛti, *Viṣṇusmṛti*, *Śivadharmottarapurāṇa*, etc. Brahminical
texts, *Ācārāṅgasūtra*, *Kalpasūtra*, *Āvaśyakaniryukti*, *Nyāyavatāra*
and *Viśeṣāvaśyaka Bhāṣya* among Jaina texts and Buddhist text in
Sanskṛta, *Laṅkāvatārasūtra*.

As already mentioned Vedic text *Śivadharmottarapurāṇa*
and Buddhist text *Laṅkāvatārasūtra* have been explicitly referred
to. Sources of the remaining quotations etc. have to be traced out.

We find, in this regard that the first quotation occurs in the
fourth *Agnikārikāṣṭakam*. Haribhadra in this *Aṣṭaka* maintains that
the practice of Sacrificial fire (*Agnikārikā*), resorted to by
devotees of heretic traditions, bestows worldly achievements only.
The ultimate goal of emancipation, attained by knowledge and
meditation, can never be realised by it (Sacrificial fire). The
verses : one containing his (Haribhadra's)^{*} proposition and other
quoted from *Śivadharmottarapurāṇa* to prove his point, are as
follows —

dīkṣā mokṣārthamākhyātā jñānadhyānaphalam ca sa.

śāstra ukto yataḥ sutrati śivadharmottare hyataḥ. 2/4

pūjayā vipulam rājyamagnikāryeṇa sampadaḥ.

tapas pāpaviśudhyartham jñānam dhyānam ca muktidaṁ. 3/4

That is worship and Sacrificial fire (*Agnikārikā*) yield
worldly pleasures like statehood and riches only. Penances elimi-
nate sins, salvation is the outcome of knowledge and meditation.
Haribhadra, in order to glorify the penance, knowledge and medita-
tion, and to denounce the worship and sacrificial fire, has cited the
verse from *Śivadharmottarapurāṇa*, probably another name of
Śivapurāṇa.

It appears that Ācārya has composed these verses on the basis of ideas found in *Śivapurāṇa*⁹. I have not been able to trace this particular verse in *Śivapurāṇa*. However, its 41th chapter, *Koṭirudrasaṁhitā*, verse 17-19 and in chapter 12th. *Umāsaṁhitā* the theme of the verse is available. It may be possible that at the time of Haribhadra this particular verse was available in some recensions of the text (*Śivadharmottara*).

Again in the verse sixth of the same *Aṣṭaka*, *Agnikārikā*, Ācārya depicts that refraining from vicious conduct is better than endeavour to purify or eliminate it, after indulging in it (vicious conduct), through the act of benevolence etc. To substantiate this point, he has cited the following verse in the name of *Mahātmanā* (*coktaṁ mahātmanā*), occurring in *Mahābhārata*¹⁰ –

dharmārthaṁ yasya vitteḥ tasyānīhā gariyasi.
prakṣālanādhi paṅkasya dūrādasparśanaṁ varaṁ. 6/4

That is for him, pursuing wealth for purposes of virtue, to refrain or abstain from such pursuits is better, because surely not to touch mire (at all) than to wash it off (after having besmeared with it) is better.

In the thirteenth *Dharmavādāṣṭakaṁ* the Haribhadra upholds that virtuous ones ought to deliberate on the essence of religion. He, at the same time advises them not to ponder over the definition of valid knowledge, because there is no use in (deliberating on) it. To support this proposition, he quotes a verse (*kārikā*), in the name of *Mahāmati* (*Siddhasena Divākara*) ' *tathā cāha mahāmatiḥ* '. The verses – the one propounding his (Haribhadra) view and other, the quote, are as follows –

dharmārthibhiḥ pramāṇāderlakṣaṇaṁ na tu yuktimat.
prayojanādybhāvena tathā cāha mahāmatiḥ. 13/4¹¹

That is righteous one ought not to deliberate on the definition of valid knowledge etc. because of lack of motive in discussing it. Also because great scholar Ācārya Siddhasena has propounded likewise –

prasiddhāni pramāṇāni vyavahāruṣca tatkrtaḥ.
pramāṇalakṣaṇasyoktau jñāyate na prayojanaṃ. 13/5¹²

Means of knowledge and application ensuing them are well-known, hence, relating the definition of valid knowledge (*Pramāṇa*) is superfluous.

The verse "*prasiddhāni pramāṇāni*" occurs in *Nyāyāvatāra* (*Kārikā*, 2) of Siddhasena. However, it is notable that *Nyāyāvatāra* is, not unanimously, ascribed to Siddhasena Divākara. According to some scholars *Nyāyāvatāra* is not the work of Siddhasena Divākara.

Haribhadra has denounced meat-eating, liquor-drinking and copulation in 17th, 18th, 19th and 20th prakaraṇas of this text. In the process of refuting the view-point of advocates of meat-eating, he cites the famous verse of *Manusmṛti*¹³—

na māṁsa bhakṣaṇe doṣaḥ na madye na ca maithune.
pravṛttireṣā bhūtānāṃ nivṛttistu manāphalā. 18/2

There is no sin in eating meat, in drinking spirituous liquor and in carnal intercourse, for that is the natural way of living beings but abstention (from these) brings great rewards.

On the basis of *Manusmṛti* itself, he attempts to refute these contentions one by one. To refute meat-eating, he has cited the following verses from the *Manusmṛti*, which are self-contradictory. The verses of *Manusmṛti* occurred in *Aṣṭaka-prakaraṇa* (18th) are as follows —

mām sa bhakṣayitā 'mutra yasya māṁsamihādmyahaṃ.
etanmāsasya māṁsatvaṃ pravadanti manīṣiṇaḥ. 18/3
prokṣitaṃ bhakṣayenmāṁsaṃ brāhmaṇānuraṃ ca kāmīyayā.
yathāvidhī niyuktastu prāṇānāmeva vā 'tyaye. 18/5

'Me' he will devour in the next world, whose flesh I eat in this life, the wisemen declare this to be the real meaning of the term flesh.

One may eat meat, when sprinkled with water, purified by recital of *mantras*, when Brahmins desire one to do so, and when

one is engaged in performing a rite, according to ritual and when one's life is in danger.

It is evident from the former of the above two verses of *Manusmṛiti*, that *smṛtikāra* warns the meat-eater to face the same fate in his next birth, i.e., to be the object of the creature whose meat he has relished in the present-birth.

On the other hand, *Manusmṛtikāra* warns that a man, duly engaged to officiate or dine at a sacred rites, if refuses to eat meat, becomes after death, an animal in coming twenty-one births. This verse is as follows¹⁴ –

*yathāvidhi niyuktastu yo māṁsam nātti vai dvijaḥ.
sa pretya paśutām yāti sambhavānekavimśatiṃ. 18/7*

Thus, in refusing the meat-eating the danger of becoming animal in twenty-one births, makes the idea of great reward meaningless. The cost of abstention 'nivṛtti' being so clear, one will be forced to resort to inclination (meat-eating).

Haribhadra, in his attempt to bringout the inherent contradictions of the verse, 'na māṁsabhakṣaṇe doṣaḥ' annules the proposition, abstention is great reward 'nivṛttistu mahāphalā'. According to Haribhadra, abstention is irrelevant in the context of Jaina monks, who are strictly forbidden to take meat. Apparently, if the proposition of great reward is accepted, those not eating meat like Jaina monks will have no opportunity to have this great reward, hence proposition is illogical.

It is notable that the recension of the first half of this verse (18/7) vary from that of *Manusmṛiti* (5/35).¹⁵ The first half is as follows –

niyuktastu yathānyāyaṁ yo māṁsam nātti vai māṇavaḥ. 5/35

To refute the idea 'there is no sin in meat-eating'. Haribhadra has also referred to Buddhist Saṁskṛta text, *Laṅkāvatāra-sūtra* also known as *Saddharmalaṅkāvatārasūtra*, where Lord Buddha has forbidden meat-eating –

*śāstre cāptena vo'pyetanniśiddhaṃ yatnato nanu.
laṅkāvatārasūtrādu tato'nena na kiñcana. 17/8*

That is your attained (Buddha) also has prohibited meat-eating in Buddhist canons like *Laṅkāvatārasūtra* etc. hence advocating meat-eating is futile. The verse forbidding meat-eating found in *Laṅkāvatārasūtra*¹⁶ is as follows —

*madyaṃ māṃsaṃ paṇḍurūṇaṃ na bhakṣayeyyaṃ mahāmune.
bodhisattvairmahāsattvairbhāṣadbhirjinapuṅgavaiḥ. 1/8*

In the light of above verses, it becomes clear that Hari-bhadra has succeeded in pointing out the inherent contradictions of this proposition, 'na māṃsabhakṣaṇe doṣaḥ'.

While refuting the third contention 'there is no sin in copulation' (*na ca maithune*). Haribhadra has referred to an illustration occurred in *Vyākhyāprajñapti*¹⁷ (*Bhagavati*). That verse in *Aṣṭaka-prakaraṇa*¹⁸ is as follows —

*prāṇināṃ bādhakaṃ caitatcchāstre gītaṃ maharṣibhiḥ.
nalikā taptakāṇaka praveśa jñātatastathā. 20/7*

That is great sages have preached in canons (*Śāstre*) through an illustration, that this intercourse is the destroyer of creatures, in the sameway as the penetration, of heated golden-rod into pipe, kills insects. The illustration referred to by Haribhadra occurs in *Vyākhyā-prajñapti* like this —

'*keṇ puriṣe rūyanāliyaṃ va hūranāliyaṃ vā tatteṇaṃ kaṇayeṇaṃ samabhidhasejā*', that is just as a human being may, with the help of a burning match-stick, destroy a stalk of a cotton plant or a stalk of a Bura plant so does a soul indulging in sex experience, incur non-restraint of the sort.

This illustration is also found in *Puruṣārtha-siddhyupāya*¹⁹ of Amṛtacandrasūri (9th-10th century A. D.) in following verse —

*hirṣyante tilanālyāṃ taptāyasi vinihite tilā yadvat.
bahavo jīvā yonau hirṣyante maithune tadvat.*

It means just as a hot rod burns up the sesamum seed filled in a tube, in which it is introduced, in the same way many living-

beings are killed in the vagina during coupulation.

In the context of (21st) '*Sūkṣmabuddhyāśrayaṇāṣṭaka*' also Haribhadra maintains that in the observance of vows etc. essence – spirit or real meaning of such acts should be scrutinised thoroughly, lest good intentions turn into desiring ill towards others. To illustrate it, Haribhadra quotes the instance of a monk, vowing to give medicine to some one. It clearly implies the sickness of someone if the vow is to be fulfilled. To desire sickness, in any case, is not desirable. Haribhadra advises to consider the pros and cons of volited act or intention, minutely. To substantiate his point, he cites from *Rāmāyaṇa* where Rāma is seen wishing that his feeling of gratitude may decrepitude in his (Rāma's) limbs itself, because the return of gratitude requires the doer to be in distress so that he could be helped, which is, in any case, an undesirable situation.

It is notable that this verse is absent in all the recensions of *Rāmāyaṇa*, barring its *Kumbhakarṇa* edition.

The context of the verse, also is different in *Rāmāyaṇa* and commentary on *Aṣṭaka-prakarṇa*²⁰. In *Rāmāyaṇa*²¹ (*Kumbhakarṇa* edition) Rāma is seen expressing his gratitude towards Hanumāna, while in *Aṣṭaka* commentary²², Jineśvarasūri describes that Sugrīva has expressed his gratitude towards Rāma on the occasion of handing over of Tārā by Rāma to him.

The verse quoted in *Aṣṭaka-prakarṇa* and occurred in *Rāmāyaṇa* (*Uttarakāṇḍa*), respectively, are as follows –

aṅgeṣvevaṃ jarāṃ yātu yattvayopakṛtaṃ mama.

naraḥ pratyupakārāya vipatsu labhate phalaṃ. 21/6

aṅgeṣvevaṃ jarāṃ yātu yattvayopakṛtaṃ kape.

naraḥ pratyupakārāṇāmāpatsu labhate phalaṃ. Rāmāyaṇa

Thus, the word 'kape' occurred in *Rāmāyaṇa*, aptly corroborates the version that this utterance is related only with Rāma and Hanumāna while that *Aṣṭaka-prakarṇa* (having *mama*) may be interpreted both ways, i.e., Rāma to Hanumāna, or Sugrīva to Rāma.

It may be possible that commentator might have a recension of *Rāmāyana* in which Sugrīva is depicted as having uttered like this or the commentators assumption or source of information was not correct.

Again in twenty-fifth '*Puṇyānubandhipuṇyapradhānaphal-āṣṭakam*'²³, Haribhadra cites the particular volition of Mahāvīra, while he was still in embryo, about not leaving the home in the life-time of his parents.

*jīvito gṛhavāse'smin yāvanme pitarāvītau.
tāvadevādhivatsyāmi gṛhānahamaptiṣṭataḥ.* 25/4

A sūtra and gāthā containing the same theme occur in *Kalpasūtra* and *Viśeṣāvaśyakabhāṣya* respectively, as follows –

*no khalu me kappai amṇāpiūhim jīvanitehim muṇḍe.
bhavitā agārāo aṇagāriam pavvattae.*²⁴
*aha sattamammi māse gabbhattho ceva abhiggaham giṇhe.
nāham samaṇo hoi amṇāpiyarammi jīvante iti.*²⁵

To comprehend the above reference it is necessary to describe the context of the proposition. Haribhadra presupposes that opponents may argue that for one, striving for the ultimate goal of salvation, what is the use of activities such as compassion, charity or service to or care for worldly creatures, in general or family members etc., in particular. To remove all these apprehensions, Haribhadra maintains that the inclination towards good deed and service to elders is likely to bring great reward in form of salvation and even seerhood (*Tirthaṅkaratva*). It is, in this context, he cites that even Mahāvīra, from the very beginning of his present birth of *Tirthaṅkara*, was involved in such virtuous activities.

Again, the contention of Buddhist is that charity, made by Mahāvīra at the time of his renunciation, can not be termed as great. As his charity is numerable and this is clearly mentioned in Jaina canonical texts (*sūtramityādi*). The information regarding his numerable charity is mentioned in *Ācārāṅga* and *Āvaśyakāniryukti*, in following manner –

egā hiraṇṇa koḍī aṇṇayā saya sahaṣṣā.
 tiṇṇeva ya koḍisaṭā aṭṭhāsītīm ca hoṃti koḍīo.
 asītīm ca sataṣaṣṣā etaṃ saṃvacchare diṇṇe.²⁶
 tiṇṇeva ya koḍisayā aṭṭhāsī ca hoī koḍīo.
 asī ca sayasaṣṣā eyaṃ saṃvacchare diṇṇaṃ.²⁷

Refuting Buddhist contention, Haribhadra maintains that greatness of his (Mahāvīra's) alm lies in his declaration 'ask for alm', 'ask for alm' (varavarikātaḥ).²⁸

mahādānaṃ hi saṅkhyāvadarthyabhāvājagadguroḥ.
 siddhaṃ varavarikāstasyāḥ sūtre vidhānataḥ. 26/5

This concept of 'varavarikā' is depicted in Āvaśyaka-niryukti²⁹ like this —

varavariā ghoṣijjai kimicchaṃ dijjae bahuvihīa.
 sura-asura-deva-dāṇavanarindamaḥiāṇa nikkhamāṇe.

In the twenty-ninth, Sāmāyikasvarūpanirūpaṇāṣṭakam' Ācārya Haribhadra draws an analogy between those endowed with Sāmāyika and Sandal tree who fill even the cutter (axe), with fragrance. This analogy of gentlemen with Sandal occurs also in Subhāṣitaratnabhāṇḍāgāraṃ³⁰ in the name of Ravigupta —

sujano na yāti vairam parahitanirato vināśakāle'pi.
 cheda'pi candana taruḥ surabhayati mukhaṃ kuṭhārasya.

In Aṣṭaka commentary³¹ also two relevant verses occur —

apakāra pare'pi pare kurvantyupakārameva hi mahāntaḥ.
 surabhiṃ karoti vāsīm malayajamaṇi takṣyamāṇamapi.

yo māmapakarotyēṣa tatvenopakarotyasaṃ.
 śīrāmokṣādyupāyena kurvāṇa iva nīrupaṃ.

The above discussion shows that Ācārya Haribhadra has beautifully and successfully exploited his knowledge of Jaina as well as other traditions to prove his point or refute that of others.

References

1. 'tathā cāha mahāmatih', Aṣṭaka- prakaraṇa, prakaraṇa 13/verse 4, edited & Gujrati translation Khushalchand, Mahavira Jaina Vidyalaya, Bombay, 1941.

2. 'tathā cōktaṁ mahātmanā', Ibid.
3. 'sūtrāṁ śivadharmottare hyadaḥ', Ibid. 4/2.
4. 'laṅkāvatārasūtrādau', Ibid. 17/8.
5. 'jināgame', Ibid. 25/8.
6. 'sūtramityādi', Ibid. 26/1.
7. 'sūtre', Ibid. 26/5.
8. *Aṣṭaka-prakaraṇa*, 4/2-3.
9. *Śivapurāṇa* (Two Parts), Commentary, Pt. Jwala Prasad Misra, Khemaraja Srikrishnadasa Publication, Bombay, 1996.
10. *Mahābhārata*, Vanaparva, Chapter 2/Verses 49, Gita Press, Gorakhpur, 5th edition, 1988.
11. *Aṣṭaka-prakaraṇa*, 13/4.
12. *Nyāyavatāra*, Siddhasena Divakar, Kārikā 2, editor S. R. Banerjee, Samskrit Depot Pvt. Ltd., Calcutta.
13. *Manusmṛti*, Commentary K. P. Sharma Dvivedi, Bombay, 1920.
14. *Aṣṭaka-prakaraṇa*, 18/7.
15. *Manusmṛti*, Bombay, 1920.
16. *Saddharmalaṅkāvatārasūtra* (*māṁsabhakṣaṇa parāvarta*), editor P. L. Vaidya, Buddhist Sanskrita Series, Text No. 3, Mithila Institute of Post Graduate Studies & Research in Learning, Darabhangā, 1963, p. 104.
17. *Vyākhyāprajñāpti*, I Part, 2/5/89, editor Madhukara Muni, Jināgama Text Se. Agama Publication Committee, Byāvara.
18. *Aṣṭaka-prakaraṇa*, 20/7.
19. *Puruṣārtha-siddhyupāya*, Chapter 4/Verses 108, editor Ajit Prasad, J. L. Jaini Memorial Series 6, Central Jaina Publishing House, Lucknow, 1933.
20. *Aṣṭaka-prakaraṇa*, 21/6.
21. *Rāmāyaṇa*, Uttarakāṇḍa, editor U. P. Shah, Oriental Institute of Badodara, p. 210 footnotes.

22. 'kila sugrīveṇa tārāvāptau rāmādeva evamuktaḥ', *Aṣṭaka-prakarāṇa*, Commentary Jineśvara, Jaina Grantha Prakashaka Samiti, Rajnagar, 1937, p. 78.
23. *Aṣṭaka-prakarāṇa*, 25/4.
24. *Kalpasūtra*, Para 91, editor M. Vinayasagara, Prakrit Bharati S. No. 1, Prakrit Bharati, Jaipur, 1984.
25. *Viśeṣāvaśyakabhāṣya*, Part One, Gāthā 59, Divyadarśana Trust, Bombay, 1972.
26. *Ācārāṅga*, IInd Part, 2/3/15/113, editor Madhukaramuni, Jināgama Text S. No. 2, Āgama Publication Committee, Byāvar, 1980.
27. *Āvaśyaka-niryukti*, Part One, Gāthā 220, Bherulal Kanhaiyalal Kothari Religious Trust, Bombay, 1981.
28. *Aṣṭaka-prakarāṇa*, 26/5.
29. *Āvaśyaka-niryukti*, 219, Bombay.
30. *Subhāṣitaratnabhāṇḍāgāraṇ*, Bombay 1935, p. 47, Verse 110.
31. *Aṣṭaka-prakarāṇa*, Commentary, Rajnagar, p. 94.

महादेवाष्टकम्

यस्य संक्लेशजननोरागो नास्त्येव सर्वथा ।

न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु शमेन्धनदवानलः ॥ १ ॥

न च मोहोऽपिसज्ज्ञानच्छादनोऽशुद्धवृत्तकृत् ।

त्रिलोकख्यातमहिमा महादेवः स उच्यते ॥ २ ॥

जिसमें संक्लेश को उत्पन्न करने वाला राग पूर्णरूप से नहीं है और जिसमें प्राणियों के प्रति ऐसा द्वेष भी नहीं है, जो शमरूपी ईधन को भस्मीभूत करने वाला दावाग्निरूप है और न ही सद्-ज्ञान का आच्छादक एवं आचरण को दूषित करने वाला मोह ही है, वह तीनों लोक में प्रसिद्ध महिमा वाला महादेव कहा जाता है ॥ १-२ ॥

यो वीतरागः सर्वज्ञो यः शाश्वतसुखेश्वरः ।

विलष्टकर्मकलातीतः सर्वथा निष्कलस्तथा ॥ ३ ॥

यः पूज्यः सर्वदेवानां यो ध्येयः सर्वयोगिनाम् ।

यः स्रष्टा सर्वनीतीनां महादेवः स उच्यते ॥ ४ ॥

जो वीतराग है, सर्वज्ञ है, शाश्वत-सुख का स्वामी है, दुःख के कारण (रूप) कर्माशों से सर्वथा मुक्त है तथा जो सर्वथा मलरहित है, जो समस्त देवों का पूज्य है, जो समस्त योगियों का ध्येय है और समस्त नीतियों का सर्जक है, वह महादेव कहा जाता है ॥ ३-४ ॥

[Mahādevāṣṭakam]

*yasya saṅkleśajanano rāgo nāstyeva sarvathā.
na ca dveṣo 'pi satrveṣu śamendhanadavānalaḥ.
na ca moho 'pi sajjñānacchādano 'śuddhavṛttakṛt.
trilokakhyātamahimā mahādevaḥ sa uccyate.*

He, is called the Great Lord, who is absolutely free from the affliction-generating attachment and envy towards all the living beings. These attachment and envy are analogous to the woodfire for burning the fuel such as tranquility. That Great lord is also free from the delusion that obscures the right knowledge as well as vitiates the right conduct and whose greatness is well known in three worlds.

*yo vītarāgaḥ sarvajñaḥ yaḥ śāśvatasukheśvaraḥ.
kliṣṭakarṇmakulātītaḥ sarvathā niṣkalastathā.
yaḥ pūjyaḥ sarvadevānāṃ yo dhyeyaḥ sarvayogināṃ.
yaḥ sraṣṭā sarvanītināṃ mahādevaḥ sa uccyate.*

He, is called the Great Lord, who is detached, omniscient, possessor of the eternal bliss, absolutely free from the miserable karma-particles (*Bhāva-kevalin*) as well as from the body. (*Siddha-kevalin*) and venerable for all the deities, meditated on by all the devotees and the creator of all the moral codes.

एवं सद्वृत्तयुक्तेन येन शास्त्रमुदाहृतम् ।
शिववर्त्म परं ज्योतिस्त्रिकोटीदोषवर्जितम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार सदाचरण युक्त होकर जिस (देव) के द्वारा उत्तम मोक्ष-
मार्ग का प्रकाशक शास्त्र निर्मित किया गया है जो परम ज्योतिस्वरूप एवं
राग-द्वेष तथा मोह रूपी तीन प्रकार के दोषों से रहित है, वह महादेव कहा
जाता है ॥ ५ ॥

यस्य चाराधनोपायः सदाज्ञाम्यासएव हि ।
यथाशक्ति विधानेन नियमात्सफलप्रदः ॥ ६ ॥

निश्चित रूप से जिसकी आराधना का उपाय उसकी आज्ञा का परि-
पालन ही है। यथाशक्ति नियमपूर्वक उस आज्ञा का पालन करने से वह
जिनाज्ञा (आराधना) अवश्य ही फल प्रदान करने वाली है ॥ ६ ॥

सुवैद्यवचनाद्यद्भ्युत्थाद्येर्भवति संशयः ।
तद्भेदेव हि तद्भाक्याद् भुवः संसारसंशयः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार कुशल वैद्य के निर्देशों के परिपालन से रोग का नाश
हो जाता है, उसी प्रकार उस महादेव के वचन के परिपालन से निश्चित रूप
से संसार (भव-परम्परा) का क्षय होता है ॥ ७ ॥

एवम्भूताय शान्ताय कृतकृत्याय धीमते ।
महादेवाय सततं सम्यग्भक्त्या नमोनमः ॥ ८ ॥

इस प्रकार के स्वरूप वाले, शान्त, कृतकृत्य, धीमान् महादेव को
सम्यक् भक्तिपूर्वक सदैव वन्दन हो ॥ ८ ॥

*evam sadvṛttayuktena yena śāstramudāhṛtaṁ.
shivavartma param śyotistrikotīdoṣavarjitaṁ.*

He, is called the Great Lord, who is endowed with righteous conduct and who delivered the canons — the excellent illuminators of the path of liberation and free from the three categories of blemishes, such as attachment, aversion and delusion.

*yasya cārāadhanopāyaḥ sadājñābhyāsa eva hi.
yathāśakti vidhānena niyamātsa phalapradaḥ.*

The only mode of worshipping Him is to always obey his orders with the best of one's capacity, that observance invariably brings reward.

*suvaidyavacanaādyadvadvyādhērbhavatī sarikṣayaḥ.
tadvadeva hi tadvākyaḥ dhruvaḥ sarisārasarikṣayaḥ.*

As the prescription of a good physician completely cures the disease, similarly the sermons of that Great Lord, certainly, annihilate the transmigration or mundane existence.

*evambhūtāya śāntāya kṛtakṛtyāya dhīmate.
mahādevāya satataṁ samyagbhaktyā namonamah.*

Always obeisance with right devotion to that Great Lord, endowed with aforesaid qualities who is tranquil, intelligent and has accomplished the ultimate goal.



स्नानाष्टकम्

द्रव्यतो भावतश्चैव द्विधा स्नानमुदाहृतम् ।

बाह्यमाध्यात्मिकं चेति तदन्यैः परिकीर्त्यते ॥ १ ॥

द्रव्य और भाव की अपेक्षा से स्नान दो प्रकार का कहा गया है।
अन्य (मतानुयायी) इन्हें (क्रमशः) बाह्य और आध्यात्मिक स्नान कहते
हैं ॥ १ ॥

जलेन देहदेशस्य क्षणं यच्छुद्धिकारणम् ।

प्रायोऽन्यानुपरोधेन द्रव्यस्नानं तदुच्यते ॥ २ ॥

जल से किया गया जो स्नान शरीर के भाग-विशेष की क्षणिक शुद्धि
का ही कारण है, उसे प्रायः आन्तरिक मल का शोधक न होने से द्रव्य-
स्नान कहा जाता है ॥ २ ॥

कृत्वेदं यो विधानेन देवतातिथिपूजनम् ।

करोति मलिनारम्भी तस्यैतदपि शोभनम् ॥ ३ ॥

भावशुद्धिनिमित्तत्वात्तथानुभवसिद्धितः ।

कथञ्चिदोषभावेऽपि तदन्यगुणभावतः ॥ ४ ॥

अल्प आरम्भी जो गृहस्थ विधिपूर्वक (स्नान) कर देव तथा अतिथि
(साधु-साध्वी) की पूजा करता है, उसके लिये यह (द्रव्य-स्नान) भी
शुभ है क्योंकि यह भाव-शुद्धि का निमित्त है। किञ्चित् दोषयुक्त होने पर भी
अन्य गुणों से युक्त होने के कारण द्रव्य-स्नान का शुभत्व अनुभवसिद्ध
है ॥ ३-४ ॥

2

[Snānāṣṭakam]

*dravyato bhāvataścaiva dvidhā snānamudāhṛtaṃ.
bāhyamādhyātmikaṃ ceti tadanyaiḥ parikīrtyate.*

Bathing is described as two-fold — external and internal, these are referred to as physical and spiritual by others (followers of the other systems).

*jalena dehadeśasya kṣaṇaṃ yacchuddhikāraṇaṃ.
prāyo'nyānuparodhena dravyasnānaṃ taducyate.*

Bathing with water is called the physical bathing. It is the cause of the momentary and partial purity of the body and mostly incapable of obstructing new impurity.

*kṛtvedaṃ yo vidhānena devatātithipūjanaṃ.
karoti malinārambhī tasyaitadapi śobhanaṃ.
bhāvaśuddhinimittatvāttathānubhavasiddhitāḥ.
kathañcidoṣabhāve'pi tadanyaguṇabhāvataḥ.*

This physical bath is auspicious also of that householder, who is partially engaged in impure activities, worships the deities and serves monks and nuns after ritually taking (physical) bath.

(Physical bath is auspicious) being the instrumental cause of the mental purity and established so by experience, though vitiated somehow, is bestowed with other virtues.

अधिकारिवशाच्छास्त्रे धर्मसाधनसंस्थितिः ।

व्याधिप्रतिक्रियातुल्या विज्ञेया गुणदोषयोः ॥ ५ ॥

रोग-चिकित्सा के समान शास्त्र में धर्म-साधन की व्यवस्था भी अधिकारी भेद से अर्थात् साधक के गुण-दोषानुसार भिन्न-भिन्न जानना चाहिए ॥ ५ ॥

ध्यानाभ्यासा तु जीवस्य सदा यच्छुद्धिकारणम् ।

मलं कर्म समाश्रित्य भावस्नानं तदुच्यते ॥ ६ ॥

जो स्नान-ध्यानरूपी जल से जीव के कर्मरूपी मल की शुद्धि का सदा कारण है, वह भाव-स्नान कहा जाता है ॥ ६ ॥

ऋषीणामुत्तमं ह्येतन्निर्दिष्टं परमर्षिभिः ।

हिंसादोषनिवृत्तानां व्रतशीलविवर्धनम् ॥ ७ ॥

निश्चितरूप से श्रेष्ठ ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट यह उत्तम भाव-स्नान हिंसादि दोषों से निवृत्त मुनियों के व्रत और शील की अभिवृद्धि करने वाला है ॥ ७ ॥

स्नात्वाऽनेन यथायोगं निःशेषमलवर्जितः ।

भूयो न लिप्यते तेन स्नातकः परमार्थतः ॥ ८ ॥

जो इस भाव-स्नान द्वारा समुचित रूप से समस्त मल से रहित हो पुनः (मलिन) नहीं होता, वही वास्तविक अर्थों में स्नान करने वाला स्नातक है ॥ ८ ॥



*adhikārivaśācchāstre dharmasādhanasamsthitiḥ.
vyādhipratikriyātulyā vijñeyā guṇadoṣayoḥ.*

The merit and demerit of the different provisions of religious code are to be ascertained according to the individuals and their circumstances. As the different prescriptions of a doctor are considered good or bad according to the ill person's nature and his disease.

*dhyānānibhāsa tu jīvasya sadā yacchuddhikāraṇaṁ.
malam karma samāścītya bhāvasnānaṁ taducyate.*

That bathing is called the spiritual bath, performed with meditation like water is always the cause of the purity of soul, aiming at purifying the karmic impurity.

*ṛṣṇāmuttamaṁ hyetannirdiṣṭaṁ paramarṣibhiḥ.
himsādoṣanivṛttānāṁ vrataśilavivardhanaṁ.*

The Great Seers proclaimed this spiritual bathing as excellent, magnifying vows and conduct of those monks, free from vices of violence.

*snātvā'nena yathāyogaṁ niḥśeṣamalavarjitaḥ.
bhūyo na lipyate tena snātakāḥ paramārthataḥ.*

He is really a bather, who having performed this (spiritual bath) becomes completely free from the impurities and not sticks to those impurities again.



पूजाष्टकम्

अष्टपुष्पी समाख्याता स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।
अशुद्धेतरभेदेन द्विधा तत्त्वार्थदर्शिभिः ॥ १ ॥

अष्ट प्रकारी पूजा स्वर्ग और मोक्ष की साधनभूत है। तत्त्व-ज्ञानियों द्वारा इसे क्रमशः अशुद्ध (द्रव्य) और उससे इतर अर्थात् शुद्ध (भाव) — दो प्रकार का कहा गया है ॥ १ ॥

शुद्धागमैर्यथालाभं प्रत्यग्रैः शुचिभाजनैः ।
स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि पुष्पैर्जात्यादिसम्भवैः ॥ २ ॥
अष्टापायविनिर्मुक्ततदुत्थगुणभूतये ।
दीयते देवदेवाय या साऽशुद्धेत्युदाहता ॥ ३ ॥

सम्यक् रूप से न्यून या अधिक जितने प्राप्त हो सकें उतने नूतन (अम्लान) तथा पवित्र पात्र में रखे हुए मालती आदि पुष्पों द्वारा आठ अपाय अर्थात् कर्मों से मुक्त (अतएव) अनन्त गुणों से युक्त देवाधिदेव की जाने वाली पूजा अशुद्ध पूजा कही गई है। (अष्ट प्रकारी द्रव्यपूजा किञ्चित् हिंसा दोष से युक्त होने के कारण अशुद्ध कही गई है ॥ २-३ ॥

सङ्कीर्णेषा स्वरूपेण द्रव्याद्भावप्रसक्तितः ।
पुण्यबन्धनिमित्तत्वाद् विज्ञेया सर्वसाधनी ॥ ४ ॥

स्वाभाविक रूप से पाप-मिश्रित होने से अशुद्ध कही गई इस अष्ट प्रकारी द्रव्य-पूजा (पुष्पादि द्वारा की गई पूजा) को शुभ-भाव की उत्पत्ति और पुण्य-बन्ध का निमित्त होने से स्वर्ग का साधनरूप समझना चाहिए ॥ ४ ॥

3

[Pūjāṣṭakam]

*aṣṭapuspi samākhyātā svargamokṣaprasādhani.
aśuddhetarabhegena dvidhā taurvāritadarśitani.*

The Seers of the truth described eight-fold worship as means of heaven and liberation. It is two-fold — impure and different from that, i.e., pure.

*śuddhāgamauryathālābhan pratyagrah śucibhājanaiḥ.
stokairvā bahubhirvā'pi puspairjātyādisambhavaḥ.
aṣṭāpūyavinirmuktatadutthaguṇabhūṭaye.
dīyate devadevāya yā sā'śuddhetyudāhṛtā.*

The worship, performed to adore the Great Lord, who is free from the eight impurities (karmas), excelled in infinite qualities such as eternal knowledge etc. with the flowers of Jasminum, Grandiflorum etc., as acquired with pure means, fresh and put in pure vessels (baskets) whether little or much, is called as impure worship, because it involves little violence of one sensed beings such as vegetable kingdom.

*sankīrṇaiṣā svarūpeṇa dravyādbhāvaprasaktiḥ.
puṇyabandhanimittatvād vijñeyā sarvasādhani.*

This, impure worship be regarded as means of attaining heaven, innately mingled with little violence in acquiring flowers etc. because of generating the feeling of devotion and the cause of auspicious bondage.

या पुनर्भावजैः पुष्पैः शास्त्रोक्तिगुणसङ्गतैः ।
परिपूर्णत्वतोऽम्लानैरत एव सुगन्धिभिः ॥ ५ ॥

जो पूजा अग्रिम में वर्णित पूर्ण रूप से विकसित अम्लान एवं सुगन्धि से युक्त (अहिंसादि) भावसुमनों से की जाती है, वह शुद्ध पूजा है ॥ ५ ॥

अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमसङ्गता ।
गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥ ६ ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, गुरुभक्ति, तप और ज्ञान — ये (आठ) शुद्धपूजा के सत्पुष्प या भाव-पुष्प कहे गए हैं ॥ ६ ॥

एभिर्देवाधिदेवाय बहुमानपुरस्सरा ।
दीयते पालनाद्या तु सा वै शुद्धेत्युदाहृता ॥ ७ ॥

इन आठ प्रकार के भाव-पुष्पों का सम्यक् प्रकार से परिपालन ही देवाधिदेव की बहुमानपूर्वक शुद्ध पूजा कही गयी है ॥ ७ ॥

प्रशस्तो ह्यनया भावस्ततः कर्मक्षयो घृवः ।
कर्मक्षयाच्च निर्वाणमत एषा सतां मता ॥ ८ ॥

इस (शुद्ध पूजा) से भाव प्रशस्त होते हैं और उन प्रशस्त भावों से निश्चितरूप से कर्मक्षय होते हैं और कर्मक्षय से निर्वाण होता है, इसलिए सत्पुरुषों को यह भावपूजा — शुद्धपूजा मान्य है ॥ ८ ॥



*yā punarbhāvajaiḥ puṣpaiḥ śāstroktiguṇasaṅgataiḥ.
paripūrṇatvato'mlānairata eva sugandhibhiḥ.*

That is called the pure worship, which is performed with heart-born abstract flowers of good will and virtues as depicted in canonical proclamations, fully blossomed and unwithered, hence always fragrant.

*ahimsāsatyamasteyam brahmacaryamaṅgatā.
gurubhaktistapo jñānam satpuṣpāṇi pracakṣate.*

Non-violence, truth, non-stealing, celibacy, non-possession, devotion towards teacher (*Guru*), penances and right cognition are called splendid or abstract flowers.

*ebhirdevādhidevāya bahumānapurassarā.
dīyate pālanādyā tu sā vai śuddhetyudāhṛtā.*

That one is called the pure worship, offered to the Great Lord, with great reverence by practising, these non-violence etc. splendid or abstract flowers.

*praśasto hyanayā bhāvastataḥ karmakṣayo dhruvaḥ.
karmakṣayācca nirvāṇamata eṣā satām matā.*

By this pure worship modes of soul become auspicious, there upon, certainly destruction of *karma* and due to the destruction of *karma*, liberation (is attained). Hence, the wisemen desire it.



अग्निकारिकाष्टकम्

कर्मैन्धनं समाश्रित्य दृढा सद्भावनाहुतिः ।

धर्मध्यानाग्निना कार्या दीक्षितेनाग्निकारिका ॥ १ ॥

दीक्षित श्रमण को कर्मरूपी ईंधन ग्रहणकर, प्रबल शुभभावनारूपी आहुति और धर्मध्यानरूपी आग्नि से अग्निकारिका करनी चाहिये ॥ १ ॥

दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता ज्ञानध्यानफलं च स ।

शास्त्र उक्तो यतः सूत्रं शिवधर्मोत्तरे ब्रह्मदः ॥ २ ॥

दीक्षा का उद्देश्य मोक्ष है और आगम में मोक्ष को ज्ञान और ध्यान का फल कहा गया है। इस सम्बन्ध में शिवधर्मोत्तरपुराण में निम्न श्लोक कहा गया है — ॥ २ ॥

पूजया विपुलं राज्यमग्निकार्येण सम्पदः ।

तपः पापविशुद्ध्यर्थं ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥ ३ ॥

पूजा से विशाल राज्य और अग्निकार्य (यज्ञ) से समृद्धियाँ प्राप्त होती हैं। तप, पाप-विशुद्धि के लिए होता है और ज्ञान तथा ध्यान मोक्ष प्रदान करने वाला है ॥ ३ ॥

पापं च राज्यसम्पत्सु सम्भवत्यनघं ततः ।

न तद्धेत्वोरुपादानमिति सम्यग्विचिन्त्यताम् ॥ ४ ॥

राज्य और सम्पत्तियों के उपार्जन एवं भोग में पाप होता है, इस कारण उनका आश्रय निरवद्य या निष्पाप नहीं है, इस तथ्य का सम्यक् प्रकार से चिन्तन करना चाहिए ॥ ४ ॥

[Agnikārikāṣṭakam]

*karmendhanam samāśritya dṛḍha sadbhāvanāhutiḥ.
dharmadhyānāgninā kāryā dīkṣitenāgnikārikā.*

An initiated monk should kindle the spiritual fire resorting to the fuel of karma, with the invoking of firm auspicious thought and lightening the sacrificial fire of analytic meditation.

*dīkṣā mokṣārthamākhyātā jñānadhyānaphalam ca sa.
śāstra ukto yataḥ sūtram śivadharmottare hyadaḥ.*

Initiation is known as the cause of salvation, that salvation is the effect of enlightened knowledge and meditation as (*Jñānadhyānaphalam ca sa*) is uttered in an aphorism of a *Śaivāgama* entitled as *Śivadharmottara*.

*pūjayā vipulam rājyamagnikāryeṇa sampadaḥ.
tapaḥpāpaviśudhyartham jñānam dhyānam ca muktidaḥ.*

A large kingdom is obtained by worship, good fortunes by kindling sacrificial fire, penance is for eliminating sins and knowledge and meditation bestow liberation.

*pāpam ca rājyasampatsu sambhavatyanaḥkaram tataḥ.
na taddhetvorupādānamitī samyagvicintyātām.*

Royalty and fortunes beget sin, hence it should be reflected properly that resorting to their causes such as kindling the sacrificial fire may not yield sinless.

विशुद्धिर्वाग्व्यवसायस्य वा तु दानादिनैव यत् ।

तदियं नान्यथा युक्ता तथा चोक्तं महात्मना ॥ ५ ॥

इस राज्य, सम्पत्ति आदि के उपार्जन एवं भोग से उत्पन्न पाप की विशुद्धि तप (अनशनादि) से होती है, दानादि से नहीं। इस कारण धर्मध्यानरूपी अग्निकारिका से भिन्न द्रव्याग्निकारिका उचित नहीं है। महात्मा (व्यास) ने भी यही कहा है — ॥ ५ ॥

धर्मार्थं यस्य विसेहा तस्यानीहागरीयसी ।

प्रक्षालनाद्धि पङ्क्तस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ ६ ॥

धर्म के लिए जिसे धन की अभिलाषा है उसके लिए भी धन की इच्छा न करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि पङ्क्त का प्रक्षालन करने की अपेक्षा उससे दूर रहना ही श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

मोक्षाध्यसेवया चैताः प्रायः शुभतरा भुवि ।

जायन्ते ह्यनपायिन्य इयं सच्छास्त्रसंस्थितिः ॥ ७ ॥

सम्यक् श्रुत में यह व्यवस्था है कि मोक्षमार्ग के सेवन से पृथ्वी पर प्रायः अधिक शुभ और निर्दोष लब्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ७ ॥

इष्टापूर्तं न मोक्षाङ्गं सकामस्योपवर्णितम् ।

अकामस्य पुनर्योक्ता सैव न्याय्याग्निकारिका ॥ ८ ॥

इष्टापूर्त (यज्ञादि पुण्य कार्यो का अनुष्ठान) मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि ये सकाम कहे गये हैं। निष्काम व्यक्ति के लिये जो भावाग्निकारिका कही गयी है वही अग्नि-कारिका न्यायसम्मत है ॥ ८ ॥



*viśuddhiścāsyatapasā na tu dānādinaiva yat.
tadiyaṁ nānyathā yuktā tathā coktaṁ mahātmanā.*

The purification of sin is (effected) by penance and not by charity etc. Hence the kindling sacrificial fire is not proper as is also preached by the Great Soul (Mahārṣi Vyāsa).

*dharmārthaṁ yasya vitteḥ tasyānīhā garīyasī.
prakṣālanaddhī paṅkasya dūrādasparśanaṁ varam.*

For him, who pursues wealth for the purposes of virtue, to refrain from such a pursuit is better, because surely not to touch mire at all than to wash it off after having besmeared with it is better.

*mokṣādhvasevayā caitā prāyaḥ śubhatarā bhuvi.
jāyante hyanapāyīnya iyaṁ sacchāstrasaṁsthitiḥ.*

Pursuing the path of salvation, generally yields more auspicious and sinless fortunes on this earth, it is propounded in the venerable Jaina treatises.

*iṣṭāpūrtaṁ na mokṣāṅgaṁ sakāmasyopavarṇitaṁ.
akāmasya punaryuktā saiva nyāyyagnikārikā.*

Iṣṭāpūrtaṁ, i.e. the sacrifices made for the fulfilment of worldly desires are not the causes of Salvation as these are related with the one having worldly aspiration, that is why spiritual fire, identified with disinterested in worldly affairs is alone proper.



भिक्षाष्टकम्

सर्वसम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथाऽपरा ।

वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता ॥ १ ॥

परमार्थवेत्ताओं द्वारा भिक्षा तीन प्रकार की कही गयी है - प्रथमा सर्वसम्पत्करी भिक्षा, द्वितीया पौरुषघ्नी भिक्षा तथा (तृतीया) वृत्ति-भिक्षा ॥ १ ॥

यतिर्ध्यानादियुक्तो यो गुर्वज्ञायां व्यवस्थितः ।

सदानारम्भिणस्तस्य सर्वसम्पत्करी मता ॥ २ ॥

गुरु की आज्ञा में स्थित, निर्दोष आचारवाले तथा सदैव धर्म एवं शुक्ल ध्यान में निरत यति की भिक्षा सर्वसम्पत्करी भिक्षा मानी गयी है ॥ २ ॥

वृद्धाद्यर्थमसङ्गस्य भ्रमरोपमयाऽटतः ।

गृहिदेहोपकाराय विहितेति शुभाशयात् ॥ ३ ॥

वृद्ध, ग्लान, स्थविर, बाल आदि के लिये मधुकर वृत्ति से भ्रमण करते हुए अनासक्त भ्रमण द्वारा शुभ भाव से गृहस्थ के और अपने शरीर के उपकार के लिए की गई भिक्षाचर्या सर्वसम्पत्करी भिक्षा है ॥ ३ ॥

प्रव्रज्यां प्रतिपन्नो यस्तद्विरोधेन वर्तते ।

असदारम्भिणस्तस्य पौरुषघ्नीति कीर्तिता ॥ ४ ॥

जो प्रव्रज्या प्राप्त, किन्तु भ्रमणाचार के प्रतिकूल अशोभन आचरण करने वाले वेशधारी भ्रमण हैं, उनकी भिक्षाचर्या पौरुषघ्नी कही गयी है ॥ ४ ॥

5

[Bhikṣūṣṭekam]

*sarvasampatkari caikā pauruṣaghnī tathā 'parā.
vṛttibhikṣā ca tattvajñairiti bhikṣā tridhositā.*

Seers of the truth described the begging as three-fold first *Sarvasampatkari*, second *Pauruṣaghnī* and third *Vṛttibhikṣā*.

*yatirdhyānādiyukto yo gurvājñāyām vyavasthitaḥ.
sadānārambhīpastasya sarvasampatkari matā.*

That of an ascetic is called *Sarvasampatkari*, who is absorbed in meditation etc., abides by instructions of his teacher (*Guru*) and always abstains from violence.

*vṛddhādyarthamasanigasya bhramaropamayā 'lataḥ.
gṛhidehopakārāya vihiteti śubhāśayāt.*

That of a detached monk is *Sarvasampatkari*, roaming about like a bee, made with auspicious disposition of mind to serve the *Sthavira* etc. (the old ones and the venerable ones etc.) and for the good of the house-holder as well as for his body.

*pravrajyām pratipanno yastadvirodhena vartate.
asadārambhīpastasya pauruṣaghnīti kīrtitā.*

That of one is called the *Pauruṣaghnī*, who initiated into monkhood acts viciously contrary to it (monkhood).

धर्मलाघवकृन्मूढो

भिक्षयोदरपूरणम् ।

करोति दैन्यात्पीनाङ्गः पौरुषं हन्ति केवलम् ॥ ५ ॥

धर्म की अपकीर्ति करने वाला, अज्ञानी, भिक्षावृत्ति से उदरपूर्ति करके अपने अङ्गों को पुष्ट करने वाला वह श्रमण दैन्यतापूर्वक भिक्षाचर्या करके केवल अपने पुरुषार्थ का नाश करता है ॥ ५ ॥

निःस्वान्ताङ्गो ये तु व . कृत्स्नं वैक्षिप्यन्तरे

भिक्षामटन्ति वृत्त्यर्थं वृत्तिभिक्षेयमुच्यते ॥ ६ ॥

जो निर्धन, नेत्रहीन एवं पङ्गु हैं और भिक्षावृत्ति के अतिरिक्त कृषि-वाणिज्यादि क्रिया करने में समर्थ नहीं हैं, वे जीविका हेतु जो भिक्षावृत्ति करते हैं, उनकी वह भिक्षा वृत्तिभिक्षा कही जाती है ॥ ६ ॥

नाति दुष्टाऽपि चामीषामेषा स्यान्नह्यमी तथा ।

अनुकम्पा निमित्तत्वाद् धर्मलाघवकारिणः ॥ ७ ॥

(वृत्तिभिक्षा उचित है अथवा अनुचित इस सम्बन्ध में शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं —) इन (अन्धादिकों) की यह वृत्तिभिक्षा पौरुषघ्नीभिक्षा की भाँति न तो अति निन्दनीय है और न ही सर्वसम्पत्करी भिक्षा के तुल्य अतिप्रशस्त है क्योंकि वे (निर्धनादि) दया के निमित्त होने से धर्म की अप्रतिष्ठा कराने वाले नहीं हैं ॥ ७ ॥

दातॄणामपि चैताभ्यः फलं क्षेत्रानुसारतः ।

विज्ञेयमाशयाद्वापि स विशुद्धः फलप्रदः ॥ ८ ॥

उक्त तीन प्रकार के भिक्षुओं को भिक्षा देने वालों को भी पात्र के अनुसार दान का फल मिलता है, साथ ही दाता के आशय के अनुसार आत्मविशुद्धि भी होती है ॥ ८ ॥



*dharmalāghavakṛnmūḍho bhikṣayodarapūraṇam.
karoti daṇyātpīnāṅgaḥ pauruṣaṇ hanti kevalam.*

The indolent one (resorting to *Pauruṣaghnī*) causing disgrace to Jina-order feeds his belly by begging, pitiably lets his limbs be fleshy and utterly mars his virility.

*niḥsvāndhapaṅgavo ye tu na śaktā vai kriyāntare.
bhikṣāmaṭanti vṛtyartham vṛttibhikṣeyamuchyate.*

This begging of those poor, blind and crippled ones is called *Vṛttibhikṣā*, being incapable of carrying on with other activities and who beg for livelihood.

*nāti duṣṭā'pi cāmīṣāmeṣā syānnahyaṇi tathā.
anukampā nimittatvād dharmalāghavakāriṇaḥ.*

This *Vṛttibhikṣā* of these poor ones is not so vicious as that of *Pauruṣaghnī* and is surely not disgraceful to the Jina-order, as they are the object of compassion.

*dātṛṇāmapī caitābhyaḥ phalaṁ kṣetrānusārataḥ.
vijñeyamāśayādvāpi sa viśuddhaḥ phalapradāḥ.*

It should be known that the donors also are beneficiary by these beggings according to the qualifications of the recipient. It should also be noted that donor's disposition of mind also bestows auspicious fruits.



६

सर्वसम्पत्करी भिक्षाष्टकम्

अकृतोऽकारितश्चान्यैरसङ्कल्पित एव च ।

यतेः पिण्डः समाख्यातो विशुद्धः शुद्धिकारकः ॥ १ ॥

न स्वयं किया हुआ (कृत) और न दूसरों से कराया हुआ (कारित) तथा न ही किसी अन्य के लिये सङ्कल्प किया हो, ऐसा कृतादि दोषरहित भिक्षापिण्ड विशुद्ध एवं शुद्धिकारक कहा गया है ॥ १ ॥

यो न सङ्कल्पितः पूर्वं देयबुद्ध्या कथं नु तम् ।

ददाति कश्चिदेवं च स विशुद्धो बृथोदितम् ॥ २ ॥

जो पिण्ड पहले से किसी भिक्षु आदि के प्रति दान बुद्धि से सङ्कल्पित नहीं है, उसे कोई कैसे दान दे सकता है, अर्थात् असङ्कल्पित पिण्ड का दान सम्भव नहीं है। इस प्रकार असङ्कल्पित विशुद्ध पिण्ड का कथन व्यर्थ है। (यदि असङ्कल्पित पिण्ड का दान ही विशुद्ध है तो ऐसा बिना सङ्कल्प का भिक्षा-पिण्ड असम्भव होने से व्यवहार में विशुद्ध पिण्ड सम्भव नहीं होगा) ॥ २ ॥

न चैवं सदगृहस्थानां भिक्षा ग्राह्या गृहेषु यत् ।

स्वपरार्थं तु ते यत्नं कुर्वते नान्यथा क्वचित् ॥ ३ ॥

(असङ्कल्पित पिण्ड के असम्भव होने से न केवल उसका प्रतिपादन व्यर्थ है बल्कि उसका फलितार्थ यह भी है कि सदगृहस्थों के घरों से भिक्षा भी नहीं ग्रहण करनी चाहिए क्योंकि गृहस्थ तो अपने और दूसरों अर्थात् अतिथि आदि के लिए रसोई आदि बनाते हैं, केवल अपने लिए नहीं ॥ ३ ॥

[Sarvasampatkari Bhikṣāṣṭakam]

*akṛto 'kāritaścānyairasaṅkalpita eva ca.
yateḥ piṇḍaḥ samākhyāto viśuddhaḥ śuddhikāraḥ.*

That lump of food of monks, which is neither prepared by monk himself, nor got prepared by others for himself and also not intentionally prepared by the householder to give it to monk is described as pure food and which is purifier of his monkhood.

*yo na saṅkalpitaḥ purvaṁ deyabuddhyā kathaṁ nu taṁ.
dadāti kaścidevaṁ ca sa viśuddho vṛthoditaṁ.*

One may say how one may give that food not intended earlier to give it to monk, hence that purity of lump of food is meaningless.

*na caivaṁ sadgr̥hasthānaṁ bhikṣā gr̥hyā gr̥heṣu yat.
svaparārthaṁ tu te yatnaṁ kurvate nānyathā kvacit.*

If the monks are prohibited to take the food which is intentionally prepared for them, they ought not to go for begging to the houses of virtuous house-holders, because they do cooking etc. not only for themselves but for monks and guests also.

सङ्कल्पनं विशेषेण यत्रासौ दुष्ट इत्यपि ।

परिहारो न सम्यक् स्याद्यावदर्थिकवादिनः ॥ ४ ॥

जिस भिक्षा-पिण्ड में विशेष रूप से सङ्कल्प किया हुआ हो अर्थात् अमुक साधु-विशेष को यह पिण्ड मेरे द्वारा दिया जायगा वही पिण्ड दुष्ट या दोषयुक्त है ऐसा कहने पर भी दोष का परिहार सङ्गत नहीं है क्योंकि यावदर्थिक अर्थात् जितने भी भिक्षार्थी हैं सभी भिक्षार्थियों के निमित्त से बना हुआ पिण्ड भी त्याज्य है ॥ ४ ॥

विषयोऽन्यथा व्यवस्यः पुण्यार्थं प्रकृतस्य च ।

असम्भवाभिधानात्स्यादाप्तस्यानाप्तताऽन्यथा ॥ ५ ॥

प्रस्तुत सन्दर्भ में यावदर्थिक और पुण्य के लिए निर्मित पिण्ड के अर्थ का स्पष्टीकरण आवश्यक है अन्यथा असङ्कल्पित पिण्ड का अभिधान असम्भव होने से आपके आप्त (सर्वज्ञ) की असर्वज्ञता ही सिद्ध होगी ॥ ५ ॥

विभिन्नं देयमाश्रित्य स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि ।

संकल्पनं क्रियाकाले तदुष्टं विषयोऽनयोः ॥ ६ ॥

यहाँ यावदर्थिक पिण्ड और पुण्यार्थ प्रकृत पिण्ड का तात्पर्य बनाते समय स्वयं के लिए बन रही वस्तु से भिन्न देय वस्तु में दान का सङ्कल्प करने से है, अर्थात् स्वभोग्य वस्तु से भिन्न यह देय वस्तु है ऐसा उसके बनाते समय ही संकल्प किया जाय तब वह पिण्ड त्याज्य कहलाता है ॥ ६ ॥

स्वोचिते तु यदारम्भे तथा सङ्कल्पनं वक्ष्यित् ।

न दुष्टं शुभभावत्वात् तच्छुद्धापरयोगवत् ॥ ७ ॥

अपने एवं अपने कुटुम्बादि के लिये योग्य पाकरूप व्यापार में जो सङ्कल्प है वह दोषयुक्त नहीं है, बल्कि वह अन्य (साधुवन्दनादि) शुभ व्यापार की तरह चित्त की विशुद्धता का द्योतक है ॥ ७ ॥

*saṅkalpanaṁ viśeṣeṇa yatrāsau duṣṭa ityapi.
parihāro na samyak syādyāvadarthikavādinah.*

If one argues that only a particular lump of food, which is intended for a particular monk is prohibited and vicious, but this is also not just, because food in general, intended for the monks as a whole, is also prohibited and vicious.

*viśayo vā'sya vaktavyaḥ puṇyārthaṁ prakṛtasya ca.
asambhavābhidhānātsyāclāptasyānāptatā'nyathā.*

The object of this food prepared to attain merit by granting it to the monks should be ascertained, otherwise, the infeasibility of denotation of unintended food may turn in disproving the attainability of Omniscience.

*vibhinnaṁ deyamāśritya svabhogyādyatra vastuni.
saṅkalpanaṁ kriyākāle tadduṣṭaṁ viśayo'nayoḥ.*

While preparing the consumable food items such intention as this part is for self-consumption and apart from it is for granting is the vicious object of both *yāvadarthika* and *Puṇyanimitta*.

*svocīte tu yadārambhe tathā saṅkalpanaṁ kvacit.
na duṣṭaṁ śubhabhāvatvāt tacchuddhāparayogavat.*

In cooking etc. activities meant for himself and family the intention is not vicious, rather like virtuous activities reverential salutation to monks etc. it is due to the purity of mind.

दृष्टोऽसंकल्पितस्यापि लाभ एवमसम्भवः ।

नोक्त इत्याप्ततासिद्धिर्यतिधर्मोऽतिदुष्करः ॥ ८ ॥

नवजात शिशु की माँ के लिए या रोगी इत्यादि के लिए निर्मित पिण्ड साधुओं की अपेक्षा से अनौद्देशिक पिण्ड होता है और उसकी प्राप्ति सम्भव है। अतः सिद्ध है कि सर्वज्ञ ने असम्भावित पिण्ड का उपदेश नहीं दिया है। इस प्रकार उनकी सर्वज्ञता निर्दोष सिद्ध होती है। फिर भी ऐसे अनौद्देशिक (असङ्कल्पित) पिण्ड की प्राप्ति विरल होने से यतिधर्म को दुष्कर कहा गया है ॥ ८ ॥



*dṛṣṭo'saṅkalpitasyāpi lābha evamasambhavaḥ.
nokta ityāptatāsiddhiryatidharmo'tiduṣkaraḥ.*

Availability of unintended food is possible in the case of food prepared for the mother of an infant or for patients etc., so the Omniscient has not preached impossible one and thus his omniscience is also proved. Unresolved food being extremely rare, availability of monkhood is also very difficult.



७

प्रच्छन्नभोजनाष्टकम्

सर्वारम्भनिवृत्तस्य मुमुक्षोर्भावितात्मनः ।

पुण्यादिपरिहाराय मतं प्रच्छन्नभोजनम् ॥ १ ॥

सम्पूर्ण सावद्य प्रवृत्तियों से निवृत्त अर्थात् तीन करण और तीन योग से अशुभ प्रवृत्तियों के त्यागी पुनीत अन्तःकरण वाले मुमुक्षु के लिए पुण्य-बन्ध आदि का परिहार करने के लिए एकान्त भोजन सम्मत है ॥ १ ॥

मुञ्जानं वीक्ष्य दीनादिर्याचते क्षुत्प्रपीडितः ।

तस्यानुकम्पया दाने पुण्यबन्धः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥

उसे आहार ग्रहण करते हुए देखकर क्षुधा-पीडित दीनादि आहार की याचना कर सकते हैं। उन दीनादि पर अनुकम्पा से दान देने में भिक्षु को पुण्यबन्ध कहा गया है ॥ २ ॥

भवहेतुत्वतश्चायं नेष्यते मुक्तिवादिनाम् ।

पुण्यापुण्यक्षयान्मुक्तिरिति शास्त्रव्यवस्थितेः ॥ ३ ॥

यह पुण्यबन्ध संसार-चक्र का हेतु होने से मुक्तिवादियों (मुमुक्षुओं के लिए) इष्ट नहीं है। आप्त-प्रणीत आगम में यह व्यवस्था दी गयी है कि पुण्य और पाप के क्षय से मुक्ति होती है ॥ ३ ॥

प्रायो न चानुकम्पावांस्तस्यादत्त्वा कदाचन ।

तथाविधस्वभावत्वाच्छक्नोति सुखमासितुम् ॥ ४ ॥

(यदि यह कहा जाय कि अप्रच्छन्न अर्थात् खुले में भोजन करते हुए भी यदि दीनादि को भिक्षा न दें तो पुण्यादि बन्ध नहीं होता है तो इसके प्रत्युत्तर में आचार्य कहते हैं —) प्रायः दयावान उस प्रकार का (दयालु) स्वभाव होने से दीनादि को दान न देने पर कभी सुखपूर्वक नहीं रह सकता ॥ ४ ॥

[Pracchannabhojanāṣṭakaṃ]

*survārambhanivṛttasya mumukṣorbhāvitātmanaḥ.
punyādīparihārāya matuḥ pracchannabhojanaṃ.*

A well disposed aspirant, having abstained from all kinds of sinful activities and aspiring for salvation is desired to take food in private, for avoiding auspicious bondage.

*bhuñjānaṃ vīkṣya dīnādīryācate kṣutprapīḍitaḥ.
tasyānukampayā dāne punyabandhaḥ prakīrtitaḥ.*

If a hunger-stricken miserable etc. begs for food from monk at seeing him eating, his (monk's) offering due to compassion, is known as auspicious bondage.

*bhavahetutvataścāyaṃ neṣyate muktivāḍinaṃ.
punyāpunyakṣayānmuktiriti śāstravyavasthiteḥ.*

This auspicious bondage being the cause of world-cycle, is not desirable for those aspiring salvation because sacred treaties maintain that due to elimination of meritorious and demeritorious *karmas* liberation is attained.

*prāyo na cānukampāvāṃstasyādatvā kadācana.
tathāvidhasvabhāvattvācchaknoti sukhamāsitum.*

One may argue that meritorious bondage may be avoided by not offering the food to miserable etc. by that monk who is taking food in open. Refuting this Ācārya says — Generally, a compassionate monk will never be able to remain happy by denying to the miserable one owing to his compassionate nature.

अदानेऽपि च दीनादेरप्रीतिर्जायते ध्रुवम् ।

ततोऽपि शासनद्वेषस्ततः कुगतिसन्ततिः ॥ ५ ॥

(अप्रच्छन्न भोजन करने से क्षुधा-पीड़ित याचकादि के माँगने पर उन्हें देने से जो पुण्यादि बन्ध होता है, उसके परिहार के लिए यदि उन्हें दान न दिया जाय तो इस विकल्प के परिणाम पर विचार करते हुए आचार्य कहते हैं) — आहारादि का दान न देने पर निश्चित रूप से दीनादि के (मन में) अप्रसन्नता उत्पन्न होती है, शासन के प्रति द्वेष (उत्पन्न होता है) और फलतः याचकों की कुगति की परम्परा अर्थात् नारक, तिर्यञ्च, कुनर, कुदेव गतियों में उत्पन्न होने की परम्परा प्रारम्भ होती है ॥ ५ ॥

निमित्तभावतस्तस्य सत्युपाये प्रमादतः ।

शास्त्रार्थबाधनेनेह पापबन्ध उदाहृतः ॥ ६ ॥

प्रच्छन्न भोजन रूप उपाय होने पर भी प्रमाद से प्रकट में भोजन करने वाला साधु याचकादि द्वारा कृत शासन-द्वेष में कारणभूत होने से और शास्त्र की मर्यादा का उल्लङ्घन करने के कारण पापबन्ध का भागी होता है ॥ ६ ॥

शास्त्रार्थश्च प्रयत्नेन यथाशक्ति मुमुक्षुणा ।

अन्यव्यापारशून्येन कर्तव्यः सर्वदैव हि ॥ ७ ॥

मोक्षमार्गाभिलाषी को अन्य लोक-व्यवहार रूप प्रवृत्तियों से विरत होकर सर्वदैव प्रयत्नपूर्वक यथाशक्ति शास्त्रसम्मत आचरण करना चाहिए, अर्थात् शास्त्रोक्त प्रच्छन्न भोजन करना चाहिए ॥ ७ ॥

एवं ह्युभयथाप्येतदुष्टं प्रकटभोजनम् ।

यस्मान्निदर्शितं शास्त्रेः ततस्त्यागोऽस्य युक्तिमान् ॥ ८ ॥

इस प्रकार प्रकट भोजन, प्रकट भोजनकर्ता श्रमण द्वारा याचकादि को दान देने से और न देने से, दोनों प्रकार से दोषयुक्त होता है। इस कारण शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट प्रकट भोजन का त्याग करना ही युक्तिसङ्गत है ॥ ८ ॥

*adāne 'pi ca dīnādeṣṣīrjāyate dhruvaṃ.
tato 'pi śāsanadveṣastataḥ kugatisantatiḥ.*

(Pointing the consequences of denying food, to hunger-stricken, miserable etc. tempted by seeing the eating monk in open, to avoid meritorious bondage. Ācārya says — Definitely, a feeling of hatred would generate in miseries etc. if they denied food by monk, which in turn will lead to their hostility towards Jina-order and ultimately they would be engrossed in vicious cycle of birth and death.

*nimittabhāvatastasya satyupāye pramādataḥ.
śāstrārthabādhaneneha pāpabandha udāhṛtaḥ.*

Thus bondage of evil *karmas* is proclaimed to that monk being the cause of vicious cycle of birth and death of miserable ones, inspite of having a recourse of unobserved food negligently violating the provisions of sacred treaties.

*śāstrārthaśca prayatnena yathāśaktimumukṣuṇā.
anyavyāpāraśūnyena kartavyaḥ sarvadaiva hi.*

The one, aspiring salvation, abstaining from other worldly activities, must always act vigilantly in conformity with canonical provisions, to the best of one's capacity.

*evaṃ hyubhayathāpyetadduṣṭaṃ prakāṣabhojanaṃ.
yasmānnidarśitaṃ śāstreḥ tatastyāgo'sya yuktimān.*

Thus, taking food (by monks) in open is vicious, in both ways, given to or denied if begged. That is why propounded so by canons, hence wise one should abandon it.



प्रत्याख्यानष्टकम्

द्रव्यतो भावतश्चैव प्रत्याख्यानं द्विधा मतम् ।

अपेक्षादिकृतं ह्याद्यमतोऽन्यच्चरमं मतम् ॥ १ ॥

प्रत्याख्यान के दो प्रकार माने गये हैं — १. द्रव्य-प्रत्याख्यान और २. भाव-प्रत्याख्यान। अपेक्षादि अर्थात् ऐहिक कामनादि से सहित होने से प्रथम द्रव्य-प्रत्याख्यान है तथा अपेक्षादि से रहित होने से अन्तिम भाव-प्रत्याख्यान कहा गया है ॥ १ ॥

अपेक्षा अविधिश्चैवापरिणामस्तथैव च ।

प्रत्याख्यानस्य विघ्नास्तु वीर्याभावस्तथापरः ॥ २ ॥

कामना, अविधि अर्थात् विधिपूर्वक प्रत्याख्यान न ग्रहण करना, अपरिणाम अर्थात् प्रत्याख्यान में श्रद्धा का अभाव और वीर्याभाव अर्थात् प्रयत्न का अभाव — ये भाव प्रत्याख्यान के विघ्न हैं ॥ २ ॥

लब्ध्याद्यपेक्षया ह्येतदभव्यानामपि क्वचित् ।

श्रूयते न तत्किञ्चिदित्यपेक्षाऽत्र निन्दिता ॥ ३ ॥

भोजन, यश, पूजा आदि की उपलब्धि की कामना से युक्त प्रत्याख्यान अभव्यों में भी कभी-कभी सुना जाता है किन्तु वह (सम्यक्) नहीं है, क्योंकि प्रत्याख्यान में कुछ भी अपेक्षा रखना निन्द्य है ॥ ३ ॥

यथेवाविधिना लोके न विद्याग्रहणादि यत् ।

विपर्ययफलत्वेन तथेदमपि भाव्यताम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार लोक में अविधिपूर्वक अर्थात् सम्यगनुष्ठान के बिना जो विद्या अर्थात् मन्त्र-तन्त्र आदि का ग्रहण है, वह विपरीत फल देने के कारण

[Pratyākhyānāṣṭakam]

*dravyato bhāvataścaiva pratyākhyānam dvidhā matam.
apekṣādikṛtaṁ hyādyamato 'nyaccaramaṁ matam.*

Repudiation (*Pratyākhyāna*) is described as two-fold — spiritual and material. That observed with worldly aspirations etc. is the former one and the different from that is the latter one.

*apekṣā cāviśhiṣṭaivāpariṇāmastathaiva ca.
pratyākhyānasya vighnāstu vīryābhāvastathāparaḥ.*

Worldly aspirations, violations of proper method of taking vows, absence of the resolvant's belief etc. and that of virility are the obstacles of the spiritual repudiation.

*labdhyādyapekṣayā hyetadbhavyānāmapi kvacit.
śrūyate na tatkiñcidityapekṣā'tra ninditā.*

Sometimes repudiation by those non-liberatable ones, aiming at worldly attainments, is heard, but that is not a real repudiation because aspiration in any form is discarded herein.

*yathaivāvidhinā loke na vidyāgrahaṇādī yat.
viparyayaphalatvena tathedamapi bhāvyatām.*

As in common practice, incantations, etc. obtained without proper rituals because of bestowing adverse

(वास्तविक अर्थों में विद्या-ग्रहण) नहीं है, उसी प्रकार अविधि से ग्रहण किये गये प्रत्याख्यान को भी अप्रत्याख्यान रूप मानना चाहिए (क्योंकि यह मोक्षरूपी सम्यक् फल प्रदान नहीं करता है) ॥ ४ ॥

अक्षयोपशमात्यागपरिणामे तथाऽसति ।

जिनाज्ञाभक्तिसंवेगवैकल्यादेतदप्यसत् ॥ ५ ॥

क्षयोपशम के अभाव में जिनाज्ञा में भक्ति एवं संवेग की विकलता अर्थात् अश्रद्धा होने से तत् परिणामजन्य द्रव्य-प्रत्याख्यान भी अशुभ है ॥ ५ ॥

उदग्रवीर्यविरहात् क्लिष्टकर्मोदयेन यत् ।

बाध्यते तदपि द्रव्यप्रत्याख्यानं प्रकीर्तितम् ॥ ६ ॥

क्लिष्ट कर्मोदय के कारण उत्कट वीर्य या तीव्र शक्ति का अभाव होने से जो प्रत्याख्यान खण्डित होता है, वह भी द्रव्य-प्रत्याख्यान है ॥ ६ ॥

एतद्विपर्ययाद्भावप्रत्याख्यानं जिनोदितम् ।

सम्यक्चारित्रारूपत्वान्नियमान्मुक्तिसाधनम् ॥ ७ ॥

इस द्रव्य-प्रत्याख्यान के विपरीत सम्यक्-चारित्र रूप भाव-प्रत्याख्यान अवश्य ही मोक्षसाधक है - ऐसा जिनेश्वर द्वारा उपदिष्ट है ॥ ७ ॥

जिनोक्तमिति सद्भक्त्या ग्रहणे द्रव्यतोऽप्यदः ।

बाध्यमानं भवेद्भावप्रत्याख्यानस्य कारणम् ॥ ८ ॥

जिनेश्वर द्वारा उपदिष्ट सद्भक्तिपूर्वक द्रव्य रूप में भी गृहीत तथा कालान्तर में खण्डित हुआ द्रव्य-प्रत्याख्यान भाव-प्रत्याख्यान का कारण है ॥ ८ ॥

reward, are not obtained in true sense. Similarly should be thought of repudiation. If not adopted duly, it is infact, not repudiation.

*akṣayopāśanāṭṭyāgapariṇāme tathā'sati.
jinājñābhaktisaṁvegavaikalyādetadapyasat.*

Indecretion in repudiation owing to non-destruction-cum-subsidence of karmas and also due to the lack of devotion to Jina-order, in form of desire for worldly attainments, this material repudiation is also not auspicious.

*udagravīryavirahāt kliṣṭakarmodayena yat.
bādhyate tadapi dravyapratyākhyānam prakīrtitaṁ.*

Even if a repudiation is repealed, owing to the lack of immense virility and due to the rise of immense miserable karma, it is called material repudiation.

*etadviparyayādbhāvapratyākhyānam jinoditaṁ.
samyakcāritrārūpatvānniyamānmuktisādhanaṁ.*

The one, contrary to this (physical or material repudiation), preached by seers is spiritual repudiation. Manifested in the form of right conduct, it is essentially the means of liberation.

*jinoktamiti sadbhaktyā grahaṇe dravyato'pyadaḥ.
bādhyamānam bhavedbhāvapratyākhyānasya kāraṇam.*

Adopted with true devotion as preached by Jinas, though later on repealed, this physical repudiation is the cause of spiritual one.

ज्ञानाष्टकम्

विषयप्रतिभासं चात्मपरिणतिमत्तथा ।

तत्त्वसंवेदनं चैव ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥ १ ॥

महर्षियों ने ज्ञान तीन प्रकार का कहा है — १. विषयप्रतिभासरूप,
२. आत्मपरिणतिरूप तथा ३. तत्त्वसंवेदनरूप ॥ १ ॥

विषयकण्टकरत्नादौ बालादिप्रतिभासवत् ।

विषयप्रतिभासं स्यात् तद्देयत्वाद्यवेदकम् ॥ २ ॥

जिस प्रकार शिशु आदि अज्ञानियों को विषय, कण्टक, रत्न आदि के विषय में (उनके गुण-दोष के ज्ञान से रहित) मात्र स्थूल ज्ञान होता है, उसी प्रकार वस्तु के हेय, ज्ञेय और उपादेय आदि गुणों के अवेदक रूप अर्थात् उन्हें समझे बिना जो मात्र संवेदनात्मक ज्ञान होता है, उस अनिश्चयात्मक ज्ञान को विषयप्रतिभास कहते हैं ॥ २ ॥

निरपेक्षप्रवृत्त्यादि लिङ्गमेतदुदाहृतम् ।

अज्ञानावरणापायं महापायनिबन्धनम् ॥ ३ ॥

यह विषयप्रतिभासरूप ज्ञान, निरपेक्ष (अपेक्षारहित), प्रवृत्तिरूपी बाह्य लक्षण वाला तथा अज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला, महान् अपाय अर्थात् अनर्थ का कारण कहा गया है ॥ ३ ॥

पातादिपरतन्त्रस्य तद्दोषादावसंशयम् ।

अनर्थाद्याप्तियुक्तं चात्मपरिणतिमन्मतम् ॥ ४ ॥

पात अर्थात् अधःपतन के वशीभूत मनुष्य का उस अधःपतन के गुण-आदि से दोष आदि को जानने में संशय, विपर्यय आदि से रहित अर्थात् गुण-दोष का यथार्थ रीति से ज्ञापक तथा अनिष्ट आदि सम्यक् प्रकार से बोध करवाने वाला ज्ञान आत्मपरिणतिरूप ज्ञान कहा गया है ॥ ४ ॥

[Jñānāṣṭakam]

*viṣayapratibhāsam cātmapariṇatimattathā.
tattvasamvedanam caiva jñānamāhurmaharṣayaḥ.*

The great sages depicted knowledge as (i) objective knowledge, (ii) subjective knowledge and (iii) realization of Reality.

*viṣakaṇṭakaratnādaḥ bālādipratibhāsavat.
viṣayapratibhāsam syāt taddheyatvādyavedakam.*

Like infantine's etc. knowledge about poison, thorn, gems etc. bereft of, their undesirability etc., the indeterminate one of an object is called as mere objective knowledge.

*nirapekṣapravṛttyādi liṅgametadudāhṛtam.
ajñānāvaraṇāpāyam mahāpāyanibandhanam.*

This objective knowledge as preached by Seers is manifested by undeliberated inclinations etc. the destruction-cum-subsidence of false-cognition obscuring karman therein, and is the cause of great sins.

*pātādiparatantrasya taddoṣādāvasaṁśayaḥ.
anarthādyāptiyuktam cātmapariṇatimanmatam.*

The knowledge of one subdued by sins such as attachment-hatred etc., devoid of apprehension towards demerits and merits etc. and vilified by evils etc. is described as self-manifestation or a subjective knowledge of a passionate self.

तथाविधप्रवृत्त्यादिव्यङ्ग्यं सद्नुबन्धि च ।

ज्ञानावरणहासोत्थं प्रायो वैराग्यकारणम् ॥ ५ ॥

अपेक्षारहित प्रवृत्ति अर्थात् अनासक्त आचरण द्वारा प्रकट होने वाला यह आत्म-परिणतिरूप ज्ञान शुभ परिणाम वाला तथा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला है और प्रायः वैराग्य का कारण रूप है ॥ ५ ॥

स्वस्थवृत्तेः प्रशान्तस्य तद्धेयत्वादिनिश्चयम् ।

तत्त्वसंवेदनं सम्यग् यथाशक्ति फलप्रदम् ॥ ६ ॥

तत्त्वसंवेदनरूप तीसरा ज्ञान स्वस्थवृत्ति वाले तथा प्रशान्त पुरुष को होता है। यह ज्ञान हेय, ज्ञेय एवं उपादेय आदि का निश्चय कराने वाला तथा यथाशक्ति सम्यक् फल प्रदान करने वाला है ॥ ६ ॥

न्याय्यादौ शुद्धवृत्त्यादिगम्यमेतत्प्रकीर्तितम् ।

सज्ज्ञानावरणापायं महोदयनिबन्धनम् ॥ ७ ॥

यह तत्त्वसंवेदनरूप ज्ञान न्याय आदि से शुद्ध निरतिचार आचार-व्यवहार से गम्य अर्थात् प्रकट होता है, यह सत् ज्ञान के आवरण के दूर हो जाने से प्रकट होता है तथा महाभ्युदय अर्थात् मोक्ष का कारण है ॥ ७ ॥

एतस्मिन्सततं यत्नःकुग्रहत्यागतो भूषाम् ।

मार्गश्रद्धादिभावेन कार्य आगमतत्परैः ॥ ८ ॥

आप्तप्रवचन के प्रति श्रद्धालुओं को इस तत्त्वसंवेदनरूप ज्ञान द्वारा कदाग्रह का त्याग कर श्रद्धापूर्वक मोक्षमार्ग में निरन्तर अत्यधिक प्रयत्न करना चाहिए ॥ ८ ॥



*tathāvidhapravṛttyādivyaṅgyaṁ sadanubandhī ca.
jñānāvaraṇahrāsotthaiṁ prāyo vairāgyakāraṇaṁ.*

Second type of this self-manifestation or subjective knowledge is originated by right inclination, etc., causes auspicious bondage. It is manifested owing to the destruction-cum-subsidence of knowledge-obscuring karmas and is often the cause of renunciation.

*svasthavṛtteḥ praśāntasya taddheyatvādinīścayaṁ.
tattvasaṁvedanaṁ samyag yathāśakti phalapradam.*

The knowledge of a tranquil one with righteous conduct, is called the realization of reality. Having the determinant knowledge of undesirable etc. and bestows reward according to the shape of the body.

*nyāyyādaṁ śuddhavṛtyādigamyametatprakīrtitaṁ.
sajjñānāvaraṇāpāyaṁ mahodayanibandhanaṁ.*

This realization of Reality is acquired through non-transgressional ethical conduct etc and it is completely logical. It is blessed with the destruction of knowledge-obscuring karman and is the cause of emancipation.

*etasminsatataṁ yatnaḥ kuḡrahatyāgato bhṛśaṁ.
mārgaśraddhādibhāvena kārya āgamatatparaiḥ.*

Those, having faith in canons – sermons of Seers, endowed with belief in the path of salvation and having totally abandoned prejudices should consistently endeavour for this realization of reality.



वैराग्याष्टकम्

आर्तध्यानाख्यमेकं स्यान्मोहगर्भं तथाऽपरम् ।

सज्ज्ञानसङ्गतं चेति वैराग्यं त्रिविधं स्मृतम् ॥ १ ॥

(आप्त के द्वारा) वैराग्य तीन प्रकार का उपदिष्ट है - प्रथम, आर्त-
ध्यान नामक, दूसरा मोहगर्भ और तीसरा सज्ज्ञान से युक्त ॥ १ ॥

इष्टेतरवियोगादिनिमित्तं प्रायशो हि तत् ।

यथाशक्त्यपि हेयादाव प्रवृत्त्यादिवर्जितम् ॥ २ ॥

उद्वेगकृद्धिषादाढ्यमात्मघातादिकारणम् ।

आर्तध्यानं ह्यदो मुख्यं वैराग्यं लोकतोमतम् ॥ ३ ॥

जो ध्यान प्रायः इष्ट और अन्य अनिष्ट के क्रमशः वियोग और संयोग के
निमित्त से उत्पन्न होता हो तथा अपनी शक्ति के अनुसार ही हेय, उपादेय आदि
में क्रमशः निवृत्ति, प्रवृत्ति आदि से रहित हो, मन को उद्विग्न करने वाला हो,
दुःख से पूर्ण करने वाला हो, आत्मा (शरीर अर्थ में रूढ़) के घात (हिंसन-
ताडन) आदि में कारणभूत हो वह मुख्य रूप से आर्तध्यान है (किन्तु)
सांसारिक दृष्टि से वह वैराग्य कहा गया है ॥ २-३ ॥

एको नित्यस्तथाऽबद्धः क्षय्यसद्वेह सर्वथा ।

आत्मेति निश्चयाद्भूयो भवनेर्गुण्यदर्शनात् ॥ ४ ॥

तत्त्यागायोपशान्तस्य सद्वृत्तस्यापि भावतः ।

वैराग्यं तद्गतं यत्तन् मोहगर्भमुदाहृतम् ॥ ५ ॥

इस लोक में आत्मा एक है, नित्य तथा अबद्ध है — ऐसी वेदान्त
दर्शन की और उससे भिन्न आत्मा क्षणिक है अथवा आत्मा का सर्वथा अभाव

10

[Vairāgyāṣṭakam]

*ārttadhyānākhyamekaṁ syānmohagarbhaṁ tathā 'paraṁ.
sajjñānasaṅgataṁ ceti vairāgyaṁ trividhaṁ smṛtaṁ.*

Renunciation is described as three-fold — first originated through mournful conditions, second delusion-infected and third one imbued with right knowledge.

*iṣṭetaraviyogādinimittaṁ prāyaśo hi tat.
yathāśaktyapi heyādāva pravṛttyādivarjitaṁ.
udvegakṛdviśādāḍhyamātmaghātādikāraṇaṁ.
ārttadhyānaṁ hyado mukhyaṁ vairāgyaṁ lokato mataṁ.*

The mental state originated because of the alienation and association from favourite and disfavourite objects respectively and lacking the discrimination between right and wrong with the best of one's capacity is mournful thinking. This type of thinking, causing distress, imbued with depression, cause of suicide etc. is, infact, basically mournful but is generally called renunciation.

*eko nityastathā 'baddhaḥ kṣayyasadveha sarvathā.
ātmeti niścayādbhūyo bhavanairguṇyadarśanāt.
tattyūgāyopasāntasya sadvṛttasyāpi bhāvataḥ.
vairāgyaṁ tadgataṁ yattan mohagarbhamudāhṛtaṁ.*

The detachment from this world, to renounce it, even of the subsidient and virtuous one with auspicious mind, is preceded by the conviction that absolutely the

हैं — ऐसी बौद्ध दर्शन की मान्यता को स्वीकार कर, बार-बार संसार की असारता का दर्शन कर उसके त्याग के लिए उपशान्त बने हुए अर्थात् कषाय और इन्द्रिय का निग्रह करने वाले एवं सदाचरण करने वाले के भी जो भावपूर्ण अज्ञानजन्य वैराग्य है, उसे मोहगर्भ वैराग्य कहा गया है ॥ ४-५ ॥

भूयांसो नामिनो बद्धा बाह्येनेच्छादिना ह्यमी ।

आत्मानस्तद्वशात्कष्टं भवे तिष्ठन्ति दारुणे ॥ ६ ॥

एवं विज्ञाय तत्त्यागविधिस्त्यागश्च सर्वथा ।

वैराग्यमाहुः सज्ज्ञानसंगतं तत्त्वदर्शिनः ॥ ७ ॥

अनेक नामरूपों अथवा पर्यायों में परिणामन कर रही एवं इच्छा अर्थात् राग-द्वेष आदि बाह्य (आत्म-व्यतिरिक्त) बन्धनों से बद्ध तथा उस बन्धन के कारण इस भयंकर संसार-चक्र में कष्ट सहन कर रही अनेक आत्माओं को देखकर उस बन्ध के सर्वथा त्याग को तथा त्यागविधि को तत्त्वदर्शियों ने सज्ज्ञानयुक्त वैराग्य कहा है ॥ ६-७ ॥

एतत्तत्त्वपरिज्ञानात्रियमेनोपजायते ।

यतोऽतःसाधनं सिद्धेरेतदेवोदितं जिनैः ॥ ८ ॥

क्योंकि यह (सज्ज्ञानजन्य वैराग्य) तत्त्व-ज्ञान अर्थात् आत्मादि तत्त्वों के परिणामित्वादि स्वरूप के ज्ञान से अपरिहार्य रूप से उत्पन्न होता है, अतः जिनों द्वारा इसे मुक्ति का साधन कहा गया है ॥ ८ ॥



soul is one, eternal, non-tangible, momentary and non-existent and again having perceived the futility of the world is preached as delusion infected

*bhūyānso nāmīno baddhā bāhyenecchādinā hyamī.
ātmānastadvaśātkaṣṭaṁ bhavē tiṣṭhanti dāruṇē.
evam vijñāya tattyāgavidhistyāgaśca sarvathā.
vairāgyamāhuḥ sajjñānasaṅgataṁ tattvadarśinaḥ.*

These souls are chained into numerous nomenclatures through a chain of transmigrations, caused by external desires etc. the existence of the soul is subjected to afflictions in this dreadful world.

Thus, having perceived the afflictions of the soul because of the cycle of birth and death, truth knowers call the modes of abandonment as well as abandonment itself, by all means, the renunciation imbued with knowledge.

*etatattvaparijñānānniyamenopajāyate.
yato 'taḥ sādhanam siddheretadevodayam jinaim.*

This renunciation imbued with knowledge occurs definitely from the enlightened knowledge of reals, hence preached by Seers as means of Liberation.



तपोऽष्टकम्

दुःखात्मकं तपः केचिन्मन्यन्ते तत्र युक्तिमत् ।

कर्मोदयस्वरूपत्वाद्बलीवदीदि दुःखवत् ॥ १ ॥

कुछ आगम के सार तत्त्व से अनभिज्ञ लोग तप को दुःखात्मक मानते हैं परन्तु वह युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि मानवीय दुःख तो बैलादि के दुःखों की तरह कर्मोदय के कारण हैं, तप के कारण नहीं ॥ १ ॥

सर्व एव स दुःखेवं तपस्वी सम्प्रसज्यते ।

विशिष्टस्तद्विशेषेण सुधनेन धनी यथा ॥ २ ॥

और इस प्रकार तप को दुःखरूप मानने पर सभी दुःखी व्यक्ति तपस्वी हो जाएँगे, जिस प्रकार प्रभूत धन होने से किसी व्यक्ति को धनी कहा जाता है, उसी प्रकार विशिष्ट दुःख के कारण कुछ व्यक्ति विशेष तपस्वी कहे जाएँगे ॥ २ ॥

महातपस्विनश्चैव त्वन्नीत्या नारकादयः ।

शमसौख्यप्रधानत्वाद्योगिनस्त्वतपस्विनः ॥ ३ ॥

(इस पर प्रतिपक्षी तर्क देता है कि सभी दुःखी जनों को तपस्वी कहने में क्या दोष ? इसके प्रत्युत्तर में आचार्य कहते हैं) — इस प्रकार तुम्हारी नीति से नारक आदि महातपस्वी कहे जाएँगे और शम रूपी सुख की प्रधानता के कारण (दुःखी न होने से) योगी अतपस्वी कहे जाएँगे ॥ ३ ॥

युक्त्यागमबहिर्भूतमतस्त्याज्यमिदं बुधैः ।

अशस्तध्यानजननात् प्राय आत्मापकारकम् ॥ ४ ॥

प्रायः आत्मा का अपकारक (अहित करने वाला), युक्ति से परे और आगम में प्रतिपादित न होने से तथा अप्रशस्त ध्यान उत्पन्न करने का कारण होने से यह देह-दण्डनरूप तप बुद्धिमानों द्वारा त्याज्य है ॥ ४ ॥

[Tapo'sṭakam]

*duḥkhātmakam tapaḥ kecinmanyante tanna yuktimat.
karmodayasvarūpatvādbalīvardādi duḥkhavat.*

The view of a few that the austerity is agonising, but this view is not reasonable. Because afflictions are caused by the rise of *karman*, as that of oxen etc. and not because of penances.

*sarva eva ca duḥkhyevam tapasvī samprasajyate.
viśiṣṭastadvīśeṣeṇa sudhanena dhanī yathā.*

In this way, all the miserable creatures will invariably become ascetic. Just as one abounding in fortunes is known as affluent, in the same way, the more severe one's miseries, the greater his degree of asceticism.

*mahātapasvinaścaiva tvannītyā nārakādayaḥ.
śamasaukhyapradhānatvādyoginastvatapasvinaḥ.*

Thus, your preposition will imply that hellish beings as a whole should be considered Great ascetics while predominantly blessed with the pleasure of tranquility, ascetics will be considered non-devout.

*yuktyāgamabahirbhūtamatastyājyarnīdam budhaiḥ.
aśastadhyānaajanāt prāya ātmāpakārakam.*

One should know this austerity, not proved logically and not depicted in canons, often injurious to the soul and the cause of inauspicious meditation, is worth renouncing by intelligents.

मन-इन्द्रिययोगानामहानिश्चोदिता जिनैः ।

यतोऽत्र तत्कथं त्वस्य युक्ता स्याद् दुःखरूपता ॥ ५ ॥

जिनों द्वारा उपदिष्ट है कि तप वह है जिससे मन, इन्द्रियों और योगों की हानि न हो, इस कारण यहाँ (तप के सम्बन्ध में) तुम्हारी दुःखरूपता की अवधारणा किस प्रकार युक्ति-सङ्गत है ? ॥ ५ ॥

यापि चानशनादिभ्यः कायपीडा मनाक् क्वचित् ।

व्याधिक्रियासमा सापि नेष्टसिद्धेश्च बाधनी ॥ ६ ॥

अनशनादि तप से जो कुछ थोड़ी शारीरिक पीड़ा होती भी है वह भी रोग-चिकित्सा के समान इष्ट-साधिका होने से बाधक नहीं है ॥ ६ ॥

दृष्टा चेदर्थसंसिद्धी कायपीडा ह्रदुःखदा ।

रत्नादिवणिगादीनां तद्वद्वापि भाव्यताम् ॥ ७ ॥

देखा गया है कि रत्नादि की प्राप्ति हेतु व्यापारियों की इष्ट-प्रयोजन की सिद्धि में (होने वाली) शारीरिक पीड़ा दुःखद नहीं होती है। उसी प्रकार यहाँ (तप के विषय में) भी समझना चाहिए ॥ ७ ॥

विशिष्टज्ञानसंवेगशमसारमतस्तपः ।

क्षायोपशमिकं ज्ञेयमव्याबाधसुखात्मकम् ॥ ८ ॥

तप विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट संवेग तथा विशिष्ट शमरूप उत्तम तत्त्व है। इस तप को चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न अव्याबाध अर्थात् प्रशमसुखात्मक जानना चाहिए ॥ ८ ॥



*mana-indriyayogānāmahūniścoditā jinaih.
yato 'tra tatkatham tvasya yuktā syād duḥkharūpatā.*

As preached by Jinas, austerity is not injurious to mind, senses and activity (Yoga). Therefore, how its miserable nature may be justified.

*yāpi cānaśanādivyaḥ kāyapīḍā manāk kvacit.
vyādhikriyāsamā sāpi neṣṭasidhyātra bādhanī.*

Even if, a bit of physical suffering is involved in observing austerities such as fasting etc. It is in no way detrimental in attaining the desired goal as equanimity, this pain is like that of treatment of a disease.

*dr̥ṣṭā cedarthasamsiddhau kāyapīḍā hyaduḥkhadā.
ratnādivaṇigādīnām tadvadatrāpi bhāvyatām.*

Obviously, as in the case of businessmen, physical suffering endured in achieving their goal such as to achieve jewelers etc. is definitely not painful, similarly should be thought of here i.e. regarding austerity also.

*viśiṣṭajñānasamvegaśamasāramatastapaḥ.
kṣāyopaśamikaṁ jñeyamavyābādhasukhātmakaṁ.*

The essence of austerity being distinguished knowledge, desire for emancipation and tranquility, hence it should be regarded as caused by destruction-cum-subsidence of conduct deluding *karman* and as producing eternal blessing.



वादाष्टकम्

शुष्कवादो विवादश्च धर्मवादस्तथाऽपरः ।

इत्येष त्रिविधो वादः कीर्तितः परमर्षिभिः ॥ १ ॥

शुष्कवाद, विवाद तथा धर्मवाद — इस प्रकार यह वाद श्रेष्ठ ऋषियों (मुनियों) द्वारा तीन प्रकार का कहा गया है ॥ १ ॥

अत्यन्तमानिना सार्धं क्रूरचित्तेन च दृढम् ।

धर्मद्विष्टेन मूढेन शुष्कवादस्तपस्विनः ॥ २ ॥

अत्यन्त अभिमानी, क्रूर हृदय, धर्मद्वेषी तथा मूर्ख के साथ तपस्वियों अर्थात् सद्वृत्ति वाले लोगों का वाद शुष्कवाद या अनर्थवाद कहा जाता है ॥ २ ॥

विजयेऽस्यातिपातादि लाभं तत्पराजयात् ।

धर्मस्येति द्विधाऽप्येष तत्त्वतोऽनर्थवर्धनः ॥ ३ ॥

(उन अभिमानी आदि व्यक्तियों के साथ वाद में तपस्वी के) विजयी होने पर उन अभिमानी आदि द्वारा अपघात आदि के कारण और उनसे पराजित होने से धर्म के माहात्म्य की हानि, इस प्रकार तत्त्वतः अर्थात् परमार्थ की दृष्टि से शुष्कवाद विजय और पराजय — दोनों ही प्रकार से अनर्थ को बढ़ाने वाला होता है ॥ ३ ॥

लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्यादुःस्थितेनाऽमहात्मना ।

छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृतः ॥ ४ ॥

सुवर्णादि के लाभ तथा कीर्ति की कामना वाले अज्ञानी तथा अनुदार चित्त वाले व्यक्ति के साथ वाक्-छल और जाति की प्रधानता वाला वाद-विवाद कहा गया है ॥ ४ ॥

12

[Vādāṣṭakam]

*śuṣkavādo vivādaśca dharmavādastathāparaḥ.
ityeṣa trividho vādaḥ kīrtitaḥ paramarṣibhiḥ.*

Discussion or debate is described three-fold by Great sages (Seers) such as meaningless discussion, disputation and the last righteous debate.

*atyantamāninūsārdham krūracittena ca dṛḍham.
dharmadviṣṭena mūḍhena śuṣkavādastapasvinaḥ.*

That of ascetics, with extremely insolent, highly cruel hearted, obstinate and ignorant, is meaningless discussion.

*vijaye'syātipātādi lāghavam tatparājayāt.
dharmasyeti dvidhāpyeṣa tattvato'narthavardhanaḥ.*

In that discussion of an ascetic with arrogant etc. former's victory results in latter's suicide etc. while former's defeat causes disgrace to religion i.e. Jina-order. Thus, virtually, this meaningless discussion is unfortunate in both ways.

*labdhikhyātyarthinā tu syādduḥsthitenā'mahātmanā.
chala-jātipradhāno yaḥ sa vivāda iti smṛtaḥ.*

A discussion is termed as disputation (*Vivāda*), predominated by trick or fallacy and futile reply, of an ascetic with those who are hard-hearted and wicked as well as aspirant of fame and wealth.

विजयो ह्यत्र सत्रीत्या दुर्लभस्तत्त्ववादिनः ।

तदभावेऽप्यन्तरायादि दोषोऽदृष्टविघातकृत् ॥ ५ ॥

इस छल-जाति प्रधान वाद में वस्तु-तत्त्व का यथार्थ प्रतिपादन करने वाले वादियों अर्थात् तपस्वियों की सत्रीतिपूर्वक विजय-प्राप्ति दुष्कर है। विजय प्राप्त होने पर भी पराजित वादी के लाभ, कीर्ति आदि में अन्तराय आदि दोषों का कारण होने से ऐसा वाद तपस्वी के लिए परलोक का अहित करने वाला ही होता है ॥ ५ ॥

परलोकप्रधानेन मध्यस्थेन तु धीमता ।

स्वशास्त्रज्ञाततत्त्वेन धर्मवाद उदाहृतः ॥ ६ ॥

परलोक की प्रबल भावना वाले, मध्यस्थ अर्थात् पूर्णरूप से स्व-पर के धर्माभिनिवेश रहित और स्वशास्त्र में विद्वान् व्यक्तियों के साथ किया गया वाद धर्मवाद कहा गया है ॥ ६ ॥

विजयेऽस्य फलं धर्मप्रतिपत्त्याद्यनिन्दितम् ।

आत्मनो मोहनाशश्च नियमात्तत्पराजयात् ॥ ७ ॥

इस धर्मवाद में (तपस्वी की प्रतिपक्षी पर) विजय होने पर धर्म की प्रतिपत्ति अर्थात् प्रतिपक्षी द्वारा धर्म-अंगीकरण, धर्मप्रभावना, मैत्री आदि प्रशस्त फल प्राप्त होता है और उस तपस्वी की पराजय से अवश्य ही उसका तत्त्व-ज्ञान विषयक मोह अर्थात् अहङ्कार का नाश होता है ॥ ७ ॥

देशाद्यपेक्षया चेह विज्ञाय गुरुलाघवम् ।

तीर्थकृज्ज्ञातमालोच्य वादः कार्यो विपश्चिता ॥ ८ ॥

विद्वान् पुरुष को तीर्थङ्कर महावीर की शिक्षाओं का सम्यक् रूप से अनुशीलन कर देश, काल, सभा, प्रतिवादी के सन्दर्भ में जय-पराजय की अपेक्षा से अपने गौरव और लाघव का सम्यक् विचार करके ही वाद करना चाहिए ॥ ८ ॥

*vijayo hyatra sannityā durlabhasattvavādinah.
tadbhāve 'pyantarāyādī doṣo 'dṛṣṭavighātakṛt.*

The ascetic's victory, in this trick etc, dominated disputation by means of right prudence is rare. Even victory is injurious to his next world because it victory inherits the demerits of obstructing the gain and the fame of defeated debater.

*paralokapradhānena madhyasthena tu dhīmatā.
svaśāstrajñātataattvena dharmavāda udāhṛtaḥ.*

The discussion with the wise one is categorised as righteous debate, having firm faith in the next world, dispassionate and cognizant of realities of his sacred treaties.

*vijaye 'sya phalaṁ dharmapratipattyādyaninditaṁ.
ātmano mohanāśaśca niyamāttatparājayāt.*

The victory of ascetic over the wise opponent in this righteous debate yields in respect etc. (in him) towards order and in adapting Jina religion by him i.e. opponent. The ascetic vanquished by latter positively removes ascetic's delusion.

*deśādyapekṣayā ccha vijñāya gurulāghavaṁ.
tīrthakṛjñātamālocya vādaḥ kāryo vipaścitā.*

Therefore, an intelligent one should debate after thoroughly reflecting on magnanimity and disgrace in case of victory and defeat, respectively and with due consideration of the preachings of Mahāvīra as well as place, time, council, assessors, opponent) etc.

धर्मवादाष्टकम्

विषयो धर्मवादस्य तत्तत्तन्त्राव्यपेक्षया ।

प्रस्तुतार्थोपयोग्येव धर्मसाधनलक्षणः ॥ १ ॥

प्रत्येक दर्शन या सिद्धान्त की अपेक्षा से जो मोक्ष के लिए उपयोगी और धर्म का साधन-स्वरूप हो, वही धर्मवाद का विषय है ॥ १ ॥

पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम् ।

अहिंसासत्यमस्तेयमपरिग्रहो ब्रह्मचर्यं जैनम् ॥ २ ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य — ये पाँच (जैन, सांख्य, बौद्ध, वैशेषिक आदि) सभी धर्मावलम्बियों के लिये पवित्र हैं ॥ २ ॥

क्व खल्वेतानि युज्यन्ते मुख्यवृत्त्या क्व वा न हि ।

तन्त्रे तत्तन्त्रनीत्यैव विचार्य तत्त्वतो ह्यदः ॥ ३ ॥

धर्मार्थिभिः प्रमाणादेर्लक्षणं न तु युक्तिमत् ।

प्रयोजनाद्यभावेन तथा चाह महामतिः ॥ ४ ॥

प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः ।

प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥ ५ ॥

ये अहिंसादि प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्त में उस सिद्धान्त की मूलभूत मान्यता के अनुसार अर्थात् आत्मादि पदार्थों की नित्यानित्यादि व्यवस्थानुसार स्वतः घटित होते हैं अथवा नहीं इसका प्रत्येक धर्मावलम्बी को तत्त्वतः विचार करना चाहिए। धार्मिकों द्वारा प्रमाण आदि के लक्षण का विचार युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि इसका कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा महामति सिद्धसेन दिवाकर

[Dharmavādāṣṭakam]

*viṣayo dharmavādasya tattattantrāvyupekṣayā.
prastutārthopayogyeva dharmasādhanalakṣaṇaḥ.*

The subject-matter of debate in this Righteous one, is the one useful for emancipation and concerned with virtues, essential to religious conduct of respective systems.

*pañcāitāni pavitrāṇi sarveṣāṃ dharmacāriṇāṃ.
ahiṃsāsatyamasteyam tyāgo maithunavarjanaṃ.*

Non-violence, truth, non-stealing, non-possession and chastity, these five are sacred for all the virtuous, i. e., followers of Jainism, Sāṅkhya, Buddhism and Vaiśeṣika.

*kva khalvetāni yujyante mukhyavṛtyā kva vā na hi.
tandre tattantranītyaiva vicāryaṃ tattvato hyadaḥ.
dharmārthibhiḥ pramāṇāderlakṣaṇaṃ na tu yuktimat.
prayojanādyabhāvena tathā cāha mahāmatih.
prasiddhāni pramāṇāni vyavahāraśca tatkrtaḥ.
pramāṇalakṣaṇasyoktau jñāyate na prayojanaṃ.*

First of all every virtuous person must deliberate on whether or not, these non-violence etc. are relevant to their metaphysical postulates such as permanence-impermanence of souls etc. Righteous one ought not to ponder over on definition and criterion of valid knowledge etc. because this type of discussions will not serve any purpose in practising

ने कहा है — प्रमाण और उनसे निष्पन्न होता व्यवहार दोनों प्रसिद्ध हैं। प्रमाण का लक्षण कहने में कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ३-५ ॥

प्रमाणेन विनिश्चित्य तदुच्यते न वा ननु ।

अलक्षितात्कथं युक्ता न्यायतोऽस्य विनिश्चितिः ॥ ६ ॥

प्रमाण से निश्चित करके उस प्रमाण लक्षण को कहा जा सकता है अथवा नहीं, क्योंकि जिसका लक्षण ही नहीं हुआ है ऐसे अनिश्चित प्रमाण से अपने ही लक्षण का निश्चय तार्किक दृष्टि से किस प्रकार युक्तिसङ्गत होगा ? ॥ ६ ॥

सत्यां चास्यां तदुक्त्यां किं तद्वद्विषयनिश्चितेः ।

तत एवाविनिश्चित्य तस्योक्तिर्ध्यान्वयमेव हि ॥ ७ ॥

ऐसी स्थिति में अनिर्णीत लक्षण वाले प्रमाण से प्रमाण के लक्षण का निश्चय करने से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? इस प्रकार प्रमाण का लक्षण निश्चित करना मूर्खता होगी ॥ ७ ॥

तस्माद्यथोदितं वस्तु विचार्य रागवर्जितैः ।

धर्मार्थिभिः प्रयत्नेन तत इष्टार्थसिद्धितः ॥ ८ ॥

अतः जिन कथित वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर रागरहित धार्मिक पुरुषों को प्रयत्नपूर्वक विचार करना चाहिए, क्योंकि इसी से इष्ट अर्थ की सिद्धि होती है ॥ ८ ॥



religious virtues. Great scholar Ācārya Siddhasena has also propounded likewise —

Means of valid knowledge and their application are well-known, hence the discussions relating the criterion of valid knowledge Pramāṇa is superfluous.

*pramāṇena viniścitya taducyate na vā namu.
alakṣitātkatham yuktā nyāyato 'sya viniścitiḥ.*

Whether, the criterion of valid knowledge would be ascertained by valid knowledge itself or not? Logically, how it may be ascertained by the one, not ascertained itself.

*satyām cāsyām taduktyām kiṁ tadvadviṣayaniściteḥ.
tata evāviniścitya tasyoktirdhyāndhyameva hi.*

What is use in ascertaining the validity of knowledge by the valid knowledge, whose validity is not ascertained itself. To ascertain the validity by the not ascertained one amounts to ignorance or infatuation.

*tasmādyathoditam vastu vicāryam rāgavarjitaiḥ.
dharmārthibhiḥ prayatnena tata iṣṭārthasiddhitaiḥ.*

Therefore, the real nature of objects, as preached by Seers ought to be contemplated vigilantly by the righteous one who is free from attachment because this detached reflection leads to the attainment of the desired goal.



एकान्तनित्यपक्षखण्डनाष्टकम्

तत्रात्मा नित्य एवेति येषामेकान्तदर्शनम् ।

हिंसादयः कथं तेषां युज्यन्ते मुख्यवृत्तितः ॥ १ ॥

जिन दर्शनों की ऐसी ऐकान्तिक मान्यता है कि 'आत्मा नित्य ही है', उन दर्शनों में हिंसा आदि की अवधारणा स्वरूपतः या यथार्थ में कैसे युक्तिसङ्गत सिद्ध होगी ? ॥ १ ॥

निष्क्रियोऽसौ ततो हन्ति हन्यते वा न जातुधित् ।

कञ्चित् केनचिदित्येवं न हिंसास्योपपद्यते ॥ २ ॥

यह एकान्त नित्य आत्मा निष्क्रिय है, अतः न किसी को मारता है अथवा न किसी के द्वारा मारा जाता है, इस प्रकार इस सर्वथा नित्य आत्मा की दार्शनिक अवधारणा में हिंसा घटित नहीं होती है ॥ २ ॥

अभावे सर्वथैतस्या अहिंसापि न तत्त्वतः ।

सत्यादीन्यपि सर्वाणि नाहिंसासाधनत्वतः ॥ ३ ॥

इस हिंसा के सर्वथा अभाव में पारमार्थिक दृष्टि से अहिंसा भी सम्भव नहीं है। अहिंसा के साधनरूप होने से सत्य आदि सभी व्रत भी एकान्त नित्यात्मवादी दर्शनों में घटित नहीं हो सकते हैं ॥ ३ ॥

ततः सन्नीतितोऽभावादमीषामसदेव हि ।

सर्वं यमाद्यनुष्ठानं मोहसङ्गतमेव वा ॥ ४ ॥

अतः तार्किकरूप से निष्क्रिय आत्मा में इन हिंसादि के अभाव में यम-नियमादि सारे अनुष्ठान अभाव रूप हैं अथवा अज्ञानयुक्त हैं ॥ ४ ॥

[Ekāntanityapakṣakhaṇḍanāṣṭakam]

*tatrātmā nitya eveti yeṣāmekāntadarśanam.
himsādayaḥ katham teṣāṃ yujyante mukhyavṛttitāḥ.*

How the philosophies, believing in the absolute eternity of soul can maintain the ethical concepts such as non-violence etc. in real sense in their philosophies.

*niṣkriyo'sau tato hanti hanyate vā na jātu cit.
kañcit kenacidityevaṃ na himsāsyopapadyate.*

This absolutely eternal soul being inert neither kills anyone nor is killed by anyone, hence violence is not possible in those philosophies believing in absolute eternity of soul.

*abhāve sarvathaitasyā ahimsāpi na tattvataḥ.
satyādīnyapi sarvāṇi nāhimsāsādhana tvataḥ.*

As a consequence of the negation of violence by all means, non-violence also virtually becomes not applicable. Truth etc. all the vows, too, being the means of non-violence, do not occur in those systems, upholding the absolute eternity of the soul.

*tataḥ sannīrito 'bhāvādamiṣāmasadeva hi.
sarvaṃ yamādyanuṣṭhānaṃ mohasaṅgatameva vā.*

Thus the negation of non-violence etc. proved logically, led virtually to negation of all Yama-Niyams,

शरीरेणापि सम्बन्धो नात एवास्य सङ्गतः ।

तथा सर्वगतत्वाच्च संसारश्चाप्यकल्पितः ॥ ५ ॥

आत्मा को एकान्तनित्य मानने से उसका शरीर के साथ सम्बन्ध मानना भी युक्तियुक्त नहीं है। पुनः आत्मा के सर्वव्यापक होने से उसका भव-भ्रमण भी सम्भव नहीं है ॥ ५ ॥

ततश्चोर्ध्वगतिर्धर्माद् अधोगतिरधर्मतः ।

ज्ञानान्मोक्षश्च वचनं सर्वमेवौपचारिकम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार संसाराभाव होने पर आत्मा की ऊर्ध्वगति धर्म से होती है, अधोगति अधर्म से होती है और ज्ञान से मुक्ति होती है, ऐसा शास्त्र-वचन केवल औपचारिक ही सिद्ध होगा ॥ ६ ॥

भोगाधिष्ठानविषयेऽप्यस्मिन् दोषोऽयमेव तु ।

तद्भेदादेव भोगोऽपि निष्क्रियस्य कुतो भवेत् ॥ ७ ॥

आत्मा को भोगाधिष्ठान अर्थात् भोक्ता मानने पर भी उनके दर्शन में दोष आता है और भोग भी क्रिया का ही एक भेद होने से उस निष्क्रिय आत्मा में कैसे सम्भव होगा अर्थात् कदापि सम्भव नहीं होगा ॥ ७ ॥

इष्यते चेत् क्रियाप्यस्य सर्वमेवोपपद्यते ।

मुख्यवृत्त्याऽनघं किन्तु परसिद्धान्तसंश्रयः ॥ ८ ॥

यदि इस नित्य आत्मा में क्रिया अर्थात् परिणामन भी माना जाय तो इसमें अहिंसा-हिंसा आदि सब पारमार्थिक दृष्टि से घटित हो सकते हैं, किन्तु ऐसा स्वीकार करने से परमत अर्थात् जैनमत का आश्रय लेना पड़ेगा ॥ ८ ॥

i.e., great and minor vows or these Yama-Niyamas might be ensuing from delusion.

*śarīreṇāpi sambandho nāta evāsyā saṅgataḥ.
tathā sarvagatatvācca sarhsāraścāpyakalpitaḥ.*

Again this postulation of absolutely eternal soul, annuls, logically, its association with body. On the same footing, its (soul's) all-pervasiveness or omnipresence revokes the feasibility of its world-cycle.

*tataścordhvagatīrdharmād adhogatīrdharmataḥ.
jñānānmokṣaśca vacanaṁ sarvamevaupacārikaṁ.*

Therefore, soul's world-cycle invalidated, the precepts such as upper destiny or upward motion of soul is due to virtues (dharma) and lower destiny or downward motion is due to vices (adharma) and that liberation emanates from knowledge, are merely formal.

*bhogādhiṣṭhānaviṣaye 'pyasmin doṣo 'yameva tu.
tadbhedādeva bhogo 'pi niṣkriyasya kuto bhavet.*

Their dogma, that soul is the substratum of enjoyment, is also pervaded by this defect, because how enjoyment as species of activity is tenable in the inert soul.

*iṣyate cet kriyāpyasya sarvamevopapadyate.
mukhyavṛtyā 'naghaṁ kintu parasiddhāntasaṁśrayaḥ.*

If activities are attributed to the soul, violence etc. all the activities will be produced in real sense in it, without any contradiction or inconsistency, but then we have to take recourse to another system i.e. Jaina.

एकान्तानित्यमक्षरजगदनाष्टकम्

क्षणिकज्ञानसन्तानरूपेऽप्यात्मन्यसंशयम् ।

हिंसादयो न तत्त्वेन स्वसिद्धान्तविरोधतः ॥ १ ॥

क्षणिक ज्ञानसन्तानरूप आत्मा में भी निस्सन्देह वास्तविक रूप से हिंसादि घटित नहीं होते क्योंकि आत्मा में हिंसादि घटित मानने पर बौद्धों का अपने सिद्धान्त से विरोध होता है ॥ १ ॥

नाशहेतोरयोगेन क्षणिकत्वस्य संस्थितिः ।

नाशस्य चान्यतोऽभावे भवेद्धिंसाप्यहेतुका ॥ २ ॥

क्षणिकवाद को व्यवस्था में विनाशक हेतु के अभाव में ही पदार्थ स्वतः नष्ट होते हैं और यदि किसी वस्तु का विनाश अन्य अर्थात् कारण के अभाव में माना जाय तो हिंसा भी अहेतुक सिद्ध होगी अर्थात् हिंसा का भी कोई निमित्त नहीं होगा ॥ २ ॥

ततश्चास्याः सदा सत्ता कदाचिन्नैव वा भवेत् ।

कादाचित्कं हि भवनं कारणोपनिबन्धनम् ॥ ३ ॥

हिंसा को निहेतुक मानने पर दोष यह होगा कि या तो इसकी सदैव सत्ता होगी अर्थात् हर क्षण हिंसा होगी अथवा कभी नहीं ही होगा। दूसरे शब्दों में उसका सर्वथा अभाव होगा, क्योंकि कभी-कभी हिंसा का प्रादुर्भाव मानने पर इसका हेतु मानना पड़ेगा ॥ ३ ॥

न च सन्तानभेदस्य जनको हिंसको भवेत् ।

सांवृतत्वाच्च जन्यत्वं यस्मादस्योपपद्यते ॥ ४ ॥

सन्तान अर्थात् क्षणप्रवाहरूप विशेष का हिंसक उसका जनक नहीं

[Ekāntānityapakṣakhaṇḍanāṣṭakam]

*kṣaṇikajñānasantānarūpe'pyātmanyasaṁśayaṁ.
himsādayo na tattvena svasiddhāntavirodhataḥ.*

Infact, violence etc. are not feasible, in the soul (as perceived by advocates) of momentary theory of ceaseless flow of consciousness. Because existence of these (violence etc.) in soul is, in contrary, to their doctrines.

*nāśahetorayogena kṣaṇikatvasya saṁsthitiḥ.
nāśasya cānyato'bhāve bhaveddhimsāpyahetukā.*

If we accept the ceasing or decaying of matter etc. without cause, as postulated by (advocates of) momentariness. In other words, if decaying is an innate or natural phenomenon, we have to accept it (decay) taking place without agent or cause.

*tataścāsyāḥ sadā sattā kadācinnaiva vā bhavet.
kadācitkarṇ hi bhavanam kāraṇopanibandhanaṁ.*

In case, we accept the violence as taking place without agent or cause, the defect, underlying it, will be that sometimes its (violence's) existence will be perpetual or other times always non-existent. Because, violence taking place now or then will require agent or cause.

*na ca santānabhedasya janako himsako bhavet.
sāṁvṛtatvānna janyatvaṁ yasmādasyopapadyate.*

The creator of a flow (santāna) can not be the

होगा, क्योंकि सन्तान के काल्पनिक अर्थात् अवास्तविक या क्षणजीवी होने से उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं जिसके कारण इसका विनाश घटित होता है ॥ ४ ॥

न च क्षणविशेषस्य तेनैव व्यभिचारतः ।

तथा च सोऽप्युपादान भावेन जनको मतः ॥ ५ ॥

(क्षण-विशेष अर्थात् क्षणिक सत्ता का जनक ही उसका हिंसक है, इस युक्ति का खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं --) क्षण-विशेष अर्थात् अर्थक्रियाकारी पदार्थ का जनक उसका हिंसक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इससे व्यभिचार अर्थात् विसंवाद उत्पन्न होगा, क्योंकि नष्ट होता पदार्थ स्वयं उपादानरूप से उत्तरवर्ती क्षण (सन्तान) का जनक है, ऐसा बौद्ध मानते हैं ॥ ५ ॥

तस्यापि हिंसकत्वेन न कश्चित्स्यादहिंसकः ।

जनकत्वाविशेषेण नैवं तद्विरतिः क्वचित् ॥ ६ ॥

यदि जनक रूप होने से क्षण-विशेष को हिंसक माना जाय तो कोई भी अहिंसक नहीं होगा और इस प्रकार हिंसा का कभी भी अभाव सम्भव नहीं होगा, अर्थात् अहिंसा का अस्तित्व नहीं होगा ॥ ६ ॥

उपन्यासश्च शास्त्रेऽस्याः कृतो यत्नेन चिन्त्यताम् ।

विषयोऽस्य यथासाद्य हन्तैष सफलो भवेत् ॥ ७ ॥

इस अहिंसा का बौद्ध शास्त्रों में उल्लेख किया हुआ है इसलिए बौद्धों को गम्भीरता से प्रयत्नपूर्वक विचार करना चाहिए जिससे अहिंसा के विषय को प्राप्त कर उनका वह उल्लेख सफल - सार्थक हो सके ॥ ७ ॥

अभावेऽस्या न युज्यन्ते सत्यादीन्यपि तत्त्वतः ।

अस्याः संरक्षणार्थं तु यदेतानि मुनिर्जगौ ॥ ८ ॥

अहिंसा के अभाव में सत्यादि भी वास्तविक रूप से घटित नहीं होंगे, क्योंकि ये सब अहिंसा के संरक्षण के लिए हैं, ऐसा जिन ने कहा है ॥ ८ ॥

annihilator of the ceaseless flow of consciousness. Because the creation of flow, an imaginary phenomenon, is not possible, hence the idea, of creator annihilating the flow, is untenable.

*na ca kṣaṇaviśeṣasya tenaiva vyabhicāritaḥ.
tathā ca so'pyupādāna bhāvena janako mataḥ.*

It is not worthwhile to uphold that creator of a matter is its annihilator. Buddhists maintain that decaying matter is the auxiliary cause of the succeeding one, then there is inherent contradiction, i. e., in this case one is forced to be the annihilator of its own.

*tasyāpi himsakatvena na kaścitsyādahimsakaḥ.
janakatvāviśeṣeṇa naivaṁ tadviratiḥ kvacit.*

If we consider every matter as innate annihilator, owing to its being a creator, then the Buddha itself will cease to be non-violent and this (concept), in turn, will prove unending violence.

*upanyāsaśca śāstre'syāḥ kṛto yatnena cintyatām.
viśayo'sya yamāsādyā hantaīṣa saphalo bhavet.*

But non-violence is already preached in Buddhist's canons. Thus, Buddhists must think over, in such a way as to substantiate that mention.

*abhāve'syā na yujyante satyādīnyapi tattvataḥ.
asyā samrakṣaṇārtham tu yadetaṁ munirjagau.*

Again, in the absence of non-violence, the notion of truth etc. will also cease to exist, because these (truth etc.) are meant for strengthening the non-violence.

नित्यानित्यपक्षमण्डनाष्टकम्

नित्यानित्ये तथा देहाद् भिन्नाभिन्ने चतस्त्वतः ।

घटन्त आत्मनि न्यायाद्विंसादीन्यविरोधतः ॥ १ ॥

वास्तविक दृष्टि से आत्मा नित्यानित्य तथा शरीर से भिन्नाभिन्न है।
आत्मा के इस नित्यानित्य स्वरूप के कारण ही बिना किसी विरोध के
नियमपूर्वक हिंसादि घटित होते हैं ॥ १ ॥

पीडाकर्तृत्वयोगेन देहव्यापत्यपेक्षया ।

तथा हन्मीतिसङ्कलेशाद्विंसेषा सनिबन्धना ॥ २ ॥

पीडा अर्थात् दुःख-वेदना की कर्ता होने से, शरीर-नाश की अपेक्षा
होने से तथा 'मैं मारता हूँ' इस प्रकार चित्तकलुषता होने से — यह हिंसा
निमित्त से युक्त है ॥ २ ॥

हिंस्यकर्मविपाकेऽपि निमित्तत्वनियोगतः ।

हिंसकस्य भवेदेषा दुष्टा दुष्टानुबन्धतः ॥ ३ ॥

हिंस्य अर्थात् जिसकी हिंसा होती है, उसके कर्म का उदय हिंसा
का अवश्यम्भावी कारण है परन्तु हिंसा करने वाला हिंसा का निमित्त होने
से हिंसक कहा जाता है और वह हिंसक दुष्ट चित्त के वश हिंसा करने वाला
होने से दोषी अर्थात् कर्मबन्धक होता है ॥ ३ ॥

ततः सदुपदेशादेः क्लिष्टकर्मवियोगतः ।

शुभभावानुबन्धेन हन्ताऽस्या विरतिर्भवेत् ॥ ४ ॥

इस हिंसा से विरति अर्थात् निवृत्ति (गुरुओं और जिनों के)

[Nityānityapakṣamaṇḍanāṣṭakam]

*nityānitye tathā dehād bhinnābhinne ca tattvataḥ.
ghaṭanta ātmani nyāyāddhirmśādīnyavirodhataḥ.*

Logically, in the soul of permanent-cum-changeable nature and that of identical-cum-different from body, violence etc. virtually, occur without any inherent inconsistency.

*pīḍākartṛtvayogena dehavyāpattyapekṣayā.
tathā hanmītisaṅkleśāddhirmśaiṣā sanibandhanā.*

The violence, inherits cause as there is the feeling of inflicting pain on somebody, incitement or agitation in mind by the feeling of killing somebody and the decease of the body.

*hirmśyakarmavipāke 'pi nimittattvaniyogataḥ.
hirmśakasya bhavedeṣū duṣṭā duṣṭānubandhataḥ.*

Though the fruition or realising of karman, is the material cause in killing of its object yet undoubtedly, killer is the efficient cause in the killing because the killer acts in vitiated disposition.

*tataḥ sadupadeśādeḥ kliṣṭakarmaviyogataḥ.
śubhabhāvanubandhena hantā'syā viratirbhavet.*

There is abstention from this violence etc. owing to

सदुपदेश तथा क्लिष्ट कर्म अर्थात् अशुभकर्मों के क्षय तथा प्रशस्त भावों के अनुबन्ध से होती है ॥ ४ ॥

अहिंसेषा मता मुख्या स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।

एतत्संरक्षणार्थं च न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥ ५ ॥

अहिंसा स्वर्ग और मोक्ष की मुख्य साधनिका मानी गयी है और इसके परिवर्धन के लिए सत्यादि व्रतों का पालन भी युक्तिसङ्गत है ॥ ५ ॥

स्मरणप्रत्यभिज्ञानदेहसंस्पर्शवेदनात् ।

अस्य नित्यादिसिद्धिश्च तथा लोकप्रसिद्धितः ॥ ६ ॥

स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, देहसंस्पर्शजन्य वेदना तथा लोक-व्यवहार से इस आत्मा के नित्यानित्यत्व तथा शरीर से भेदाभेद की सिद्धि होती है ॥ ६ ॥

देहमात्रे च सत्त्वस्मिन् स्यात्सङ्कोचादिधर्मिणि ।

धर्मदिरूर्ध्वगत्यादि यथार्थं सर्वमेव तत् ॥ ७ ॥

धर्म से आत्मा की ऊर्ध्वगति और अधर्म से अधोगति होती है, यह मत शरीर-परिमाण रूप, सङ्कोच-विस्तार आदि गुण वाली आत्मा में वास्तविक रूप से घटित होता है, सर्वव्यापक या अनित्य आत्मा में नहीं ॥ ७ ॥

विचार्यमेतत् सदबुद्ध्या मध्यस्थेनान्तरात्मना ।

प्रतिपत्तव्यमेवेति न खल्वन्यः सतां नयः ॥ ८ ॥

अतः मनुष्य को मध्यस्थ भाव से स्वबुद्धि द्वारा अहिंसा आदि का विचार कर उसे अङ्गीकार करना चाहिए। सत्पुरुषों के लिए इससे अन्य कोई युक्तिसंगत मार्ग नहीं है ॥ ८ ॥



the righteous preachings, the cessation of miserable karmas and due to the auspicious disposition of mind.

*ahimsaisā matā mukhyā svargamokṣaprasādhanī.
etatsaṁrakṣaṇārtham ca nyāyāṁ satyādīpālanam.*

As means of heaven and emancipation, this (vow of) non-violence is vital and for strengthening this vow, observing the truth etc. vows, is proper.

*smaraṇapratyabhijñāna dehasaṁsparśavedanāt.
asya nityādisiddhiśca tathā lokaprasiddhiḥ.*

The eternal cum-changing etc. nature of it (soul) is established by memory, retention, tangibility, as well as by tradition.

*dehamātre ca satyasmin syātsaṁkocādidharmiṇi.
dharmāderūrdhvagatyādi yathārtham sarvameva tat.*

In soul these non-violence virtually occur, soaring upward due to virtues (and pulling downward due to vices) etc. adapting shape of the body, possessing nature of contraction etc.

*vicāryametad sadbuddhyā madhyasthenāntarātmanā.
pratīpattvyameveti na khalvanyaḥ satām nayah.*

The equanimous soul, after reflecting with auspicious mind, over these non-violence etc. should accept these, because there is no way out.



मांसभक्षणदूषणाष्टकम्

भक्षणीयं सता मांसं प्राण्यङ्गत्वेन हेतुना ।

ओदनादिवदित्येवं कश्चिदाहातितार्किकः ॥ १ ॥

कुछ अतितार्किक (शुष्क बुद्धिवादी बौद्ध) कहते हैं कि भात आदि के सदृश्य ही मांस भी भक्षणीय है, क्योंकि दोनों ही प्राणी के अवयव हैं ॥ १ ॥ *

भक्ष्याभक्ष्यव्यवस्थेह शास्त्रलोकनिबन्धना ।

सर्वैव भावतो यस्मात्तस्मादेतदसाम्प्रतम् ॥ २ ॥

भक्षणीय (ओदनादि) और अभक्षणीय (मांस आदि) - इस व्यवस्था अर्थात् मर्यादा का हेतु शास्त्र और लोक-व्यवहार हैं और यह सर्वथा भाव (मनोवृत्ति) की अपेक्षा से है। इस कारण प्रस्तुत प्रसङ्ग में दोनों प्राणी के अङ्ग हैं — यह हेतु युक्तिसङ्गत नहीं है ॥ २ ॥

तत्र प्राण्यङ्गभक्ष्येकं भक्ष्यमन्यत्तु नो तथा ।

सिद्धं गवादिसत्त्वीररुधिरादौ तथेक्षणात् ॥ ३ ॥

वहाँ शास्त्र और लोकव्यवहार में भी प्राणियों के कुछ अङ्ग भक्ष्य हैं जब कि कुछ अभक्ष्य हैं। गाय-भैस आदि का अवयव दूध भक्ष्य होने से और रुधिर, मल-मूत्र आदि अभक्ष्य होने से यह सिद्ध है। इस व्यवस्था का हेतु भिन्न है ॥ ३ ॥

प्राण्यङ्गत्वेन न च नोऽभक्षणीयमिदं मतम् ।

किन्त्वन्यजीवभावेन तथा शास्त्रप्रसिद्धितः ॥ ४ ॥

जैन मत में मांस को अभक्ष्य इसलिए नहीं स्वीकार किया गया कि वह प्राणी का अङ्ग है। मांस को स्वयं ही जीवों का पिण्ड होने से और

[Māṃsabhakṣaṇadūṣaṇāṣṭakam]

*bhakṣaṇīyaṃ satā māṃsaṃ prānyaṅgatvena hetunā.
odaṇādivadītyevaṃ kaścidāhātītārkikaḥ.*

Some ultra-logician said, thus – meat being the part of the body, should be eaten by wisemen, just as the boiled rice etc. (is eaten).

*bhakṣyābhakṣyavyavastheha śāstralokanibandhanā.
sarvaiva bhāvato yasmāttasmiādetadasāmprataṃ.*

In this world, all the provisions, regarding eatables and non-eatables, are regulated by canons and common practice hence taking into account all the consequences, this is not proper.

*tatra prānyaṅgamapyekaṃ bhakṣyamanyattu no tathā.
siddhaṃ gavādisatkṣīrarudhirādaḥ tathekṣaṇāt.*

There (in canons and in common practice) some of the body limbs are eatable while others not, and proved so being obvious in the case of body limbs – sweet milk etc. of cow eatable and blood etc. not-eatable.

*prānyaṅgatvena na ca no 'bhakṣaṇīyamidaṃ mataṃ.
kintvanyajīvabhāvena tathā śāstraprasiddhiḥ.*

Being part of the living creature's body is not the reason behind meat's not-eatability, but it is so because it

शास्त्र में मांस के अभक्ष्य रूप में प्रसिद्ध होने से इसे अभक्ष्य स्वीकार किया गया है ॥ ४ ॥

भिक्षुमांसनिषेधोऽपि न चैवं युज्यते क्वचित् ।

अस्थ्याद्यपि च भक्ष्यं स्यात्प्राण्यङ्गत्वाविशेषतः ॥ ५ ॥

यदि प्राणी का अङ्ग होना ही भक्ष्य होने का हेतु माना जाय तो भिक्षु के लिए भी मांस-निषेध युक्तिसङ्गत नहीं होगा और प्राणी के अस्थि आदि भी समान रूप से भक्ष्य होंगे ॥ ५ ॥

एतावन्मात्रसाम्येन प्रवृत्तिर्यदि चेष्यते ।

जायायां स्तब्धजनन्यां च स्त्रीत्वान्तुल्यैत साऽस्तुते ॥ ६ ॥

यदि प्राणी का अङ्ग मात्र होने के सादृश्य से मांस-भक्षण की प्रवृत्ति अभिमत है तो स्त्रीत्व का सादृश्य होने से पत्नी और अपनी माता में भी वही एक सी प्रवृत्ति होनी चाहिए ॥ ६ ॥

तस्माच्छास्त्रं च लोकं च समाश्रित्यवदेद् बुधः ।

सर्वत्रैवं बुधत्वं स्यादन्यथोन्मत्ततुल्यता ॥ ७ ॥

इस कारण बुद्धिमान व्यक्ति शास्त्र और लोक-व्यवहार का आश्रय लेकर भक्ष्याभक्ष्य के सभी प्रसङ्गों में कथन करे, उसकी बुद्धिमत्ता इसी में है; अन्यथा उसका व्यवहार उन्मत्त अर्थात् विवेकशून्य व्यक्ति के तुल्य होगा ॥ ७ ॥

शास्त्रे चाप्तेन वोऽप्येतन्निषिद्धं यत्नतो ननु ।

लङ्कावतारसूत्रादौ ततोऽनेन न किञ्चन ॥ ८ ॥

लङ्कावतारसूत्र आदि बौद्धशास्त्रों में भी आपके आप्तपुरुष बुद्धदेव ने मांसभक्षण का निषेध किया है, अतः मांसभक्षण के लिए ऐसे सादृश्यमूलक तर्कों का कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ८ ॥

* ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन में वनस्पति को भी सजीव माना गया है और इसी आधार पर विष्णु की ओर से यह तर्क दिया गया है कि यदि अन्न और मांस दोनों ही सजीव प्राणियों के अवयव हैं तो दोनों ही भक्ष्य (खाद्य) माने जाने चाहिये। आचार्य हरिभद्र ने अग्रिम श्लोकों में इसी कुतर्क का उत्तर दिया है।

is a living creature itself, that is why, so propounded in canons.

*bhikṣumāṃsaniṣedho 'pi na caivam yujyate kvacit.
asthyādyapi ca bhakṣyaṃ syātprānyaṅgatvāviśeṣataḥ.*

If ground for meat's eatability is its being limb of the body, then prohibiting it (meat) to monks also is never proper. Thus, bone's etc. too are eatable on the basis of their being part of the body.

*etāvanmātrasāmyena pravṛttiryaadi ceṣyate.
jāyāyāṃ svajananyāṃ ca strītvāttulyaiva sā'stu te.*

If merely this resemblance (that of being limb of the creature's body) makes inclination towards meat-eating viable, then one should treat alike with wife and mother, both being feminine.

*tasmācchāstraṃ ca lokaṃ ca samāśritya vaded budhaḥ.
sarvatraivaṃ budhatvaṃ syādanyathonmattatulyatā.*

Therefore, a wiseman should speak taking recourse both to canons as well as general customs. Wisdom should be applied everywhere, otherwise his conduct will resemble to that of an insane.

*śāstre cāptena vo'pyetanniṣiddhaṃ yatnato nanu.
laṅkāvatārasūtrādaḥ tato'nena na kiñcana.*

Your attained (Buddha) also has prohibited meat-eating in Buddhist canons like Laṅkāvatāra-sūtra etc. Hence meat-eating is futile.



मांसभक्षणदूषणाष्टकम्

अन्योऽविमृश्य शब्दार्थं न्याय्यं स्वयमुदीरितम् ।

पूर्वापरविरुद्धार्थमेवमाहात्र वस्तुनि ॥ १ ॥

दूसरे (द्विजादि) स्वयं प्रतिपादित मांस शब्द के न्यायसङ्गत अर्थ का विचार न कर इस (मांसभक्षण) के विषय में इस प्रकार परस्पर विरुद्ध कथन करते हैं - ॥ १ ॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ २ ॥

मांसभक्षण में दोष नहीं है, मद्यसेवन और मैथुन में भी दोष नहीं है क्योंकि यह प्राणियों की (स्वाभाविक) प्रवृत्ति है, किन्तु इनसे निवृत्ति (त्याग) महाफलदायक है ॥ २ ॥

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ३ ॥

जिसका मांस मैं इस लोक में भक्षण कर रहा हूँ, वह भी मुझे दूसरे जन्म में भक्षण करेगा, यह मांस शब्द का मांसत्व है, ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥ ३ ॥

इत्थं जन्मैव दोषोऽत्र न शास्त्राद्बाह्यभक्षणम् ।

प्रतीत्येष निषेधश्च न्याय्यो वाक्यान्तराद्गतेः ॥ ४ ॥

(आचार्य का कथन) इस प्रकार (मांस भक्षयिता के अनुसार) जन्म (भक्षक का अगले जन्म में भक्ष्यरूप में) ही दोष है तो “न मांस भक्षणे दोषः” क्यों कहा गया ? (विपक्षी का कथन) शास्त्रसम्मत के अतिरिक्त मांस-भक्षण के सम्बन्ध में यह (मांसभक्षयिता) निषेध है और

[**Māṁsabhakṣaṇadūṣaṇāṣṭakaṁ**]

*anyo'vimṣkya śabdārthaṁ nyāyyaṁ svayamudīritaṁ.
pūrvāparaviruddhārthamevamāhātra vastuni.*

Others (Brahmins etc.), not reflecting, properly on the meaning of the word (meat) uttered by themselves, expressed inconsistently on the subject, like this –

*na māṁsabhakṣaṇe doṣo na madye na ca maithune.
pravṛttireṣū bhūtānāṁ nivṛttistu mahāphalā.*

There is no sin in eating meat, in drinking spirituous liquor and in carnal intercourse, for that is the natural way of living beings but abstention brings great rewards.

*mām sa bhakṣayitāmutra yasya māṁsanihādmyaham.
etanmāṁsasya māṁsatvaṁ pravadanti manīṣiṇaḥ.*

‘Me’ he will devour in the next world, whose flesh I eat in this (life), the wise declare this (to be) the real meaning of the term flesh.

*itthaṁ jammaiva doṣo'tra na śāstrādbāhyabhakṣaṇaṁ.
pratītyaiṣa niṣedhaśca nyāyyo vākyāntarādgataḥ.*

Thus, (according to ‘mām sa’) the birth (of eater as eatable in next birth) itself is a demerit (then why meat-eating is described as not sinless) the meat-eating excluding the provisions (mentioned) in the sacred books is

अन्य निम्नोद्धृत उक्ति (प्रोक्षितं) के अनुसार मांस-भक्षण सङ्गत है ॥ ४ ॥

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।

यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव वाऽत्यये ॥ ५ ॥

प्रोक्षित मांस अर्थात् वैदिक मन्त्र से अभिसिद्धित मांस और ब्राह्मणों द्वारा वाञ्छित मांस अर्थात् ब्राह्मण द्वारा भुक्तावशेष और प्राणों की रक्षा के लिए शास्त्रविधि के अनुसार मांस ग्रहण करना चाहिए ॥ ५ ॥

अत्रैवासावदोषश्चेन्नित्यवृत्तिर्नास्त्य सज्यते ।

अन्यदाऽभक्षणादत्राभक्षणे दोषकीर्तनात् ॥ ६ ॥

यहाँ यदि उस श्लोक में कथित 'न मांसभक्षणे दोषः' — इस उक्ति का आशय यह है कि शास्त्रविहित मांसभक्षण में दोष नहीं है तो फिर उसी श्लोक में कथित 'निवृत्तिस्तु महाफला' अर्थात् मांसभक्षण से निवृत्ति कभी सम्भव ही नहीं होगी। कारण कि शास्त्रविहित प्रसङ्गों के अतिरिक्त मांस का भक्षण नहीं किया जाता है तथा शास्त्रविहित प्रसङ्गों में मांस न खाने में दोष कहा जाता है — ॥ ६ ॥

यथाविधि नियुक्तस्तु यो मांसं नात्ति वै द्विजः ।

स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम् ॥ ७ ॥

जो ब्राह्मण 'शास्त्रविहित मांसभक्षण' नहीं करता है तो वह परलोक में इक्कीस भवों तक पशुता को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

परिव्राज्यं निवृत्तिश्चेद्यस्तदप्रतिपत्तिः ।

फलाभावः स एवाऽस्य दोषो निर्दोषतैव न ॥ ८ ॥

(आचार्य का कथन है कि) परिव्राजकता स्वयं ही मांसभक्षण के त्यागरूप है तो परिव्राजकता (में मांस-निवृत्ति) के अभाव में फलाभाव होगा और विहित मांसभक्षण का दोष होगा। अतः मांसभक्षण की निर्दोषता सिद्ध नहीं होती ॥ ८ ॥

prohibited by (*māṃsa*). As sanctioned by other axiom (*Prokṣitam Bhakṣayet*) meat eating is consented.

*prokṣitam bhakṣayennūnseuṃ brāhmaṇānāṃ ca kūṇyayā
yathāvidhi niyuktastu prāṇānāmeva vā'tyaye.*

One may eat meat, when sprinkled with water, purified by recital of mantras, Brahmins desire one to do so, one is engaged in (performing a rite) according to ritual and when one's life is in danger.

*atraivāsāvadoṣaścennivṛttirnāsyā sajyate.
anyadā'bhakṣaṇādatrābhakṣaṇe doṣakīrtanāt.*

If the saying 'there is no sin' in meat-eating suggests that if eaten according to scriptural provisions is not sinful, then to abandon meat-eating will never be possible. Because though it is prohibited except under the scriptural provision yet refusal, in the context of same (scriptural provision) is termed as sinful.

*yathāvidhi niyuktastu yo māṃsaṃ nātti vai dvijaḥ.
sa pretya paśutām yāti sambhavānekavimśatiṃ.*

But a Brahmin, duly engaged to officiate or dine at a sacred rites refuses to eat meat, becomes after death an animal in coming twenty one births.

*pārvrājyaṃ nivṛttiścedyastadapratipattitaḥ.
phalābhāvaḥ sa evā'sya doṣo nirdoṣaiva na.*

If in mendicancy, abstaining from meat-eating is natural, in the case of mendicants, the occurrence of great reward by abstaining from it will not apply. This absence of great reward is itself its sin, so why it is categorised not sinful.

मद्यपानदूषणाष्टकम्

मद्यं पुनः प्रमादाङ्गं तथा सच्चित्तनाशनम् ।

सन्धानदोषवत्तत्र न दोष इति साहसम् ॥ १ ॥

(मांसभक्षण में दोष नहीं है, इसका निराकरण करने के पश्चात् 'मद्यपान में दोष नहीं है' इसका निराकरण करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं -) पुनः मद्यपान भी प्रमाद का कारण है तथा शुभ चित्त का नाशक है और सन्धान अर्थात् बहुत से घटकों का मिश्रण कर उन्हें सड़ाने से निर्मित होने के कारण बहुदोष वाला है, अतः मद्यपान में दोष नहीं है, यह कहना धृष्टता मात्र है ॥ १ ॥

किं वेह बहुनोक्तेन प्रत्यक्षेणैव दृश्यते ।

दोषोऽस्य वर्तमानेऽपि तथा भण्डनलक्षणः ॥ २ ॥

इस मद्यपान के दूषण के विषय में अधिक कहने से क्या प्रयोजन? वर्तमान में भी कलह आदि का कारण होने से इसके प्रत्यक्ष में ही अनेक दोष देखे जाते हैं ॥ २ ॥

श्रूयते च ऋषिर्मद्यात् प्राप्तज्योतिर्महातपाः ।

स्वर्गाङ्गनाभिराक्षिप्तो मूर्खवन्निधनं गतः ॥ ३ ॥

सुना जाता है कि कोई एक महातपस्वी, ज्ञानरूपी प्रकाश से युक्त ऋषि स्वर्ग-सुन्दरियों अर्थात् अप्सराओं से आकृष्ट हो मद्यपान करके मूर्ख की भाँति मृत्यु को प्राप्त हुआ ॥ ३ ॥

कश्चिद्विस्तपस्तेपे भीतः इन्द्रः सुरस्त्रियः ।

क्षोभाय प्रेषयामास तस्यागत्य चतास्तकम् ॥ ४ ॥

[Madyapānadūṣaṇāṣṭakam]

*madyaṁ punaḥ pramādāṅgaṁ tathā saccittanāśanaṁ.
sandhānadoṣavattatra na doṣa iti sāhasaṁ.*

Wine causes intoxication, destroys auspicious mind, inherits multiple defects like that of a compound (a solution of virtuous mixtures), hence maintaining 'there is no sin' is fool hardiness.

*kiṁ veva bahunoktena pratyakṣeṇaiva dṛśyate.
doṣo'sya vartamāne'pi tathā bhaṇḍanalakṣaṇaḥ.*

What is the use of telling to much about its (liquor's) sins etc. here which are very obvious. Its hazards, as well as its effects (in form of the) altercations are ever present even today.

*śrūyate ca ṛṣirmadyāt prāptajyotirmahātapāḥ.
svargāṅganābhirākṣipto mūrkhavannidhanaṁ gataḥ.*

It is heard that a sage, who was great ascetic, blessed with the light of the Supreme spirit, having been rebuked by celestial damsels because of consuming wine died away, like a fool.

*kaścidṛṣistapastepe bhītaḥ indraḥ surastriyaḥ.
kṣobhāya preṣayāmāsa tasyāgatya ca tāstakam.*

विनयेन समाराध्य वरदाभिमुखं स्थितम् ।
 जगुर्मद्यं तथा हिंसां सेवस्वाब्रह्म वेच्छथा ॥ ५ ॥
 स एवं गदितस्ताभिर्द्वयोर्नरकहेतुताम् ।
 आलोच्य मद्यरूपं च शुद्धकारणपूर्वकम् ॥ ६ ॥
 मद्यं प्रपद्य तद्भोगान्नष्टधर्मस्थितिर्मदात् ।
 विदंशार्थमजं हत्वा सर्वमेव चकार सः ॥ ७ ॥
 ततश्च भ्रष्टसामर्थ्यः स मृत्वा दुर्गतिं गतः ।
 इत्थं दोषाकरो मद्यं विश्लेष्य धर्मचारिभिः ॥ ८ ॥

अंगले पाँच श्लोकों में महातपस्वी की दृष्टान्त कथा वर्णित है —
 किसी ऋषि ने सहस्रों वर्षों तक घोर तप किया, उसके तप से भयभीत होकर
 इन्द्र ने ऋषि के विचलन के लिए देवाङ्गनाओं (अप्सराओं) को भेजा।
 उस ऋषि के समीप आकर उन देवाङ्गनाओं ने वरदान देने हेतु तत्पर होकर
 उन ऋषि से कहा — ‘मद्य, मांस या मैथुन में से किसी एक का यथेच्छ
 सेवन करें।’ उनके द्वारा इस प्रकार कहा जाने पर ऋषि ने हिंसा और मैथुन
 दोनों को नरक का कारण समझकर तथा मद्य की शुद्धता का विचार कर
 मद्यपान किया और मद्यपान के उपभोग से उत्पन्न मद के शमन के लिए
 बकरे को मारकर मांस का और फिर मैथुन का सेवन किया। इस प्रकार
 नष्टधर्मी उस ऋषि ने सारे अनर्थ कर डाले और तपभ्रष्ट हो मरकर दुर्गति
 में गया। इस प्रकार धर्माचरण करने वालों को समझना चाहिए कि मद्य दोषों
 की खान है ॥ ४-८ ॥

vinayena samārādhyā varadābhimukhaṁ sthitaṁ.
jāgurmadyaṁ tathā hiṁsāṁ sevasvābrahma vecchayā.
sa evaṁ gaditastābhirdvayornarakahetutām.
ālōcya madyarūpaṁ ca śuddhakāraṇapūrvakaṁ.
madyaṁ prapadya tadbhogānnaṣṭadharmasthitiṁmadāt.
vidanḥśārthamajaṁ hatvā sarvameva cakāra saḥ.
tataśca bhraṣṭe'vānartā jahatvā gataḥ.
itthaṁ doṣākaro madyaṁ vijñeyaṁ dharmacāribhiḥ.

The above parable is like this.

A sage performed severe penances. Indra, the lord of gods, frightened at this, sent celestial damsels to disturb his penances. Descending from the heaven, they humbly, adored the benefactor sage who became pleased with their act. They (damsels) told him to enjoy liquor or meat or copulation as per his liking. The sage addressed by them in this manner, considered the last two as causes of hell and the former one as an essence, prepared through guḍa-ghee etc. pure constituents, hence decided to drink liquor. By consuming it, he was deviated from prescribed rites and became intoxicated. To subside the effect of intoxication, he killed goat and ate meat and enjoyed sex and thus performed all the vicious practices. Thereafter, all the virility of his penances having vanished, he went to hell after demise. Thus, virtuous should be aware that wine is the mine of sins.

मैथुनदूषणाष्टकम्

रागादेव नियोगेन मैथुनं जायते यतः ।

ततः कथं न दोषोऽत्र येन शास्त्रे निषिध्यते ॥ १ ॥

‘प्रतिपक्षीमत कि ‘मैथुन में दोष नहीं है’, का निराकरण करते हुए हरिभद्र कहते हैं — क्योंकि राग से ही अपरिहार्य रूप से मैथुन उत्पन्न होता है, इस कारण इस मैथुन में दोष कैसे नहीं है ? अर्थात् अवश्य दोष है। इसी दोष के कारण शास्त्र में मैथुन का निषेध किया गया है ॥ १ ॥

धर्मार्थं पुत्रकामस्य स्वदारेष्वधिकारिणः ।

ऋतुकाले विधानेन यत्स्याद्दोषो न तत्र चेत् ॥ २ ॥

प्रतिपक्षी द्वारा मैथुन को दोषरहित सिद्ध करने के लिये यह तर्क दिया जाता है कि धर्म के लिए पुत्र की कामना करने वाले गृहस्थ द्वारा अपनी पत्नी के साथ ऋतुकाल में विधिसम्मत मैथुन में दोष नहीं है किन्तु यदि यह माना जाय तो भी इससे मैथुन का दोष-रहितत्व अबाधित रूप से सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि इससे मैथुन सर्वथा निर्दोष है यह फलित नहीं होता है ॥ २ ॥

नापवादिककल्पत्वान्नैकान्तेनेत्यसङ्गतम् ।

वेदं ह्यधीत्य स्नायाद्यदधीत्यैवेति शासितम् ॥ ३ ॥

पत्नी से मैथुन कामी को निश्चितरूप से स्नान करके वेद पढ़ना चाहिए। यहाँ पढ़कर ही, बिना पढ़े नहीं, यह उपदिष्ट है अर्थात् वेदाध्ययन अनिवार्य है, मैथुन नहीं, अतः मैथुन आपवादिक आचाररूप है, इस कारण इसे निर्दोष कहना सङ्गत नहीं है ॥ ३ ॥

[Maithunadūṣaṇāṣṭakam]

*rāgādeva niyogena maithunam jāyate yataḥ.
tataḥ katham na doṣo'tra yena śāstre niṣidhyate.*

As sexual carnality originates, inevitably from the attachment, so how it is not sinful, hence prohibited in canons.

*dharmārtham putrakāmasya svadāreṣvadhikāriṇaḥ.
ṛtukāle vidhānena yatsyāddoṣo na tatra cet.*

(One may say) In that marital intercourse of a house-holder with his own wife, desiring son for virtuous cause, after menstrual discharge, there is no sin.

*nāpavādikakalpatvānnaikāntenetyasaṅgataḥ.
vedam hyadhītya snāyādyadadhītyaiveti śāsitaḥ.*

(One desiring sexual intercourse with wife) should bathe after positively reciting Vedas. Here, after reciting (not without reciting) has been preached. Being an exceptional conduct, calling it absolutely sinless, is not proper.

स्नायादेवेति न तु यत्ततो हीनो गृहाश्रमः ।

तत्र चैतदतो न्यायाप्रशंसाऽस्य न युज्यते ॥ ४ ॥

स्नान करना ही चाहिए ऐसा भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम हीन है और उसमें ही मैथुन सम्भव है, इस न्याय से मैथुन की प्रशंसा सङ्गत नहीं है ॥ ४ ॥

अदोषकीर्तनादेव प्रशंसा चेत् कथं भवेत् ।

अर्थापत्या सदोषस्य दोषाभावप्रकीर्तनात् ॥ ५ ॥

‘मैथुन में दोष नहीं है’, इस प्रकार कथन करने मात्र से ही मैथुन की प्रशंसा कैसे होगी ? क्योंकि अर्थापत्ति प्रमाण से अदोष रूप में कथन करने से ही उसकी सदोषता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है ॥ ५ ॥

तत्र प्रवृत्तिहेतुत्वात्त्याज्यबुद्धेरसम्भवात् ।

विष्णुत्तेरिष्टसंश्लिष्टेऽपि न भद्रिका ॥ ६ ॥

‘मैथुन में दोष नहीं है’, यह उक्ति कल्याणकर नहीं है, क्योंकि यह कथन मैथुन त्याज्य है — इस बुद्धि को उत्पन्न नहीं होने देती और मैथुन प्रवृत्ति में हेतुभूत बनती है तथा मैथुन सेवन की आज्ञारूप होने से यह मैथुन सेवन की सिद्धिरूप है ॥ ६ ॥

प्राणिनां बाधकं चैतच्छस्त्रे गीतं महर्षिभिः ।

नलिकातप्तकणकप्रवेशज्ञाततस्तथा ॥ ७ ॥

महर्षियों (महावीर आदि) ने शास्त्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) में कहा है कि जिस प्रकार तप्त शलाका का नलिका में प्रवेश कराने से नलिका स्थित तिल आदि के जीवों का घात होता है, उसी प्रकार मैथुन-क्रिया प्राणियों के घात का दृष्टान्त है ॥ ७ ॥

मूलं चैतदधर्मस्य भवभावप्रवर्धनम् ।

तस्माद्विषान्नवत्याज्यमिदं मृत्युमनिच्छता ॥ ८ ॥

यह मैथुन अधर्म का मूल तथा संसार अर्थात् जन्म-मरण को बढ़ाने वाला है। अतः मृत्यु को न चाहने वाले मुमुक्षु को उसे विष-मिश्रित अन्न की तरह त्याग देना चाहिए ॥ ८ ॥



*snāyādeveti na tu yattato hīno gṛhāśramaḥ.
tatra caitadato nyāyātpraśaṁsā'sya na yujyate.*

That (after recital) one should compulsorily perform bath (intending copulation) is not preached here, even in the inferior order of the house-holder. Here, also (in house-holder's case) its praise is not reasonable.

*adoṣakīrtanādeva praśaṁsā cet katham bhavet.
arthāpatyā sadoṣasya doṣābhāvaprakīrtanāt.*

(Opponents may say) How depicting something as faultless be considered its praise. Ācārya says by circumstantial implication describing something faulty as flawless (naturally) amounts to its praise.

*tatra pravṛttilhetutvātyājyabuddherasambhavāt.
vidhyukterīṣṭasaṁsiddheruktireṣā na bhadrīkā.*

This statement (there is no sin in sexual carnality) is not just, causing the inclination towards it and shunning the attitude of abstention from it. It also sounds like an injunction, advocating sexual carnality.

*prāṇināṁ bādhakaṁ caitacchāstre gītaṁ maharṣibhiḥ.
nalikātapakapapraveśajñātatastathā.*

Great sages have preached in canons through an illustration, that this intercourse is the destroyer of creatures, in the same way as the penetration of heated rod into pipe, kills insects.

*mūlaṁ caitadadharmasya bhavubhāvapravardhanaṁ.
tasmādviṣānnavattyājyamidaṁ mṛtyumanicchatā.*

This (sexual carnality) is the cause of vices and increases the cycle of birth, hence one, not desiring death should abstain from it like that from the poisonous food.



सूक्ष्मबुद्ध्याश्रयणाष्टकम्

सूक्ष्मबुद्ध्या सदा ज्ञेयो धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः ।

अन्यथा धर्मबुद्ध्यैव तद्विघातः प्रसज्यते ॥ १ ॥

गृहीत्वा ग्लानभावव्यप्रदानाभिग्रहं यथा ।

तदप्राप्तौ तदन्तोऽस्य शोकं समुपगच्छतः ॥ २ ॥

धर्मश्रद्धालुओं को सदा सूक्ष्मबुद्धि से धर्म को जानना चाहिए, नहीं तो धर्मबुद्धि से धर्म का भी विघात होता है। जिस प्रकार ग्लान (बीमार) को औषधि प्रदान करने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर ग्लान के न मिलने पर अन्त में वह व्यक्ति शोक को प्राप्त होता है, क्योंकि अविचारित धर्मबुद्धि भी धर्म के विघात का कारण बन जाती है ॥ १-२ ॥

गृहीतोऽभिग्रहः श्रेष्ठो ग्लानो जातो न च क्वचित् ।

अहो मेऽधन्यता कष्टं न सिद्धमभिवाञ्छितम् ॥ ३ ॥

यद्यपि ग्रहण की गई प्रतिज्ञा श्रेष्ठ है, लेकिन किसी के रुग्ण न होने पर प्रतिज्ञाकर्ता विचार करता है कि मेरी अधन्यता कष्टप्रद है, मेरी इष्ट-सिद्धि नहीं हो सकी ॥ ३ ॥

एवं ह्येतत्समादानं ग्लानभावाभिसन्धिमत् ।

साधूनां तत्त्वतो यत्तद् दुष्टं ज्ञेयं महात्मभिः ॥ ४ ॥

इस प्रकार की प्रतिज्ञा-ग्रहण के परिप्रेक्ष्य में किसी के ग्लान होने का जो अभिप्राय है, वह परमार्थ की दृष्टि से सत्पुरुषों के लिए दोषरूप ही है, ऐसा महापुरुषों द्वारा जानना चाहिए। (तात्पर्य यह है कि किसी बीमार को औषध देने की प्रतिज्ञा पूरी न होने पर व्यक्ति के द्वारा यह विचार करना

[Sūkṣmabuddhyāśrayaṇāṣṭakam]

*sūkṣmabuddhyā sadā jñeyo dharmo dharmārthi-
bhirnaraiḥ.*

anyathā dharmabuddhyaiva tadvighātaḥ prasajyate.

gṛhītvā glānabhaiṣajyapradānābhigrahaṁ yathā.

tadaprāptaḥ tadante'sya śokaṁ samupagacchataḥ.

Virtuous persons should always reflect upon the righteousness minutely, otherwise its misapprehension mars the virtue itself. As a monk, having resolved to give the medicine to a patient is aggrieved, at the end if the patient is not available.

*gṛhīto'bhigrahaḥ śreṣṭho glāno jāto na ca kvacit.
aho me'dhanyatām kaṣṭam na siddhamabhi-
vāñchitaṁ.*

The monk feels my resolution is excellent but as no body fell ill my resolute remained unaccomplished, alas my misfortune is painful.

*evam hyetatsamādānam glānabhāvābhisandhimat.
sādhūnām tattvato yattad duṣṭam jñeyam
mahātmabhiḥ.*

Certainly, this kind of resolution of monks, desiring the sickness, infact, be considered vicious by great souls.

कि कोई साधु बीमार नहीं पड़ा इसलिए मेरी प्रतिज्ञा भङ्ग हुई, वस्तुतः दोषरूप है, धर्म का विधातक है ॥ ४ ॥

लौकिकैरपि चैषोऽर्थो दृष्टः सूक्ष्मार्थदर्शिभिः ।

प्रकारान्तरतः कैश्चिदत एतदुदाहृतम् ॥ ५ ॥

सूक्ष्मार्थदर्शी लौकिक पुरुषों द्वारा भी ऐसी प्रतिज्ञाओं को दोषपूर्ण माना गया है, क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञाओं में अर्थापत्ति की अपेक्षा स्पष्ट दोष परिलक्षित होता है। क्योंकि इनमें दूसरे के रोगी/दुःखी होने का चिन्तन है। इसलिए प्रकारान्तर से वाल्मीकि आदि कुछ लोगों द्वारा यह कहा गया है — ॥ ५ ॥

अङ्गेष्वेव जरां यातु यत्त्वयोपकृतं मम ।

नरः प्रत्युपकाराय विपत्सु लभते फलम् ॥ ६ ॥

जो तुम्हारे द्वारा मुझ पर उपकार किया गया, वह मेरे अङ्गों में ही जरा को प्राप्त करे अर्थात् मुझे प्रत्युपकार करने का अवसर ही प्राप्त न हो, क्योंकि उपकारी मनुष्य का प्रत्युपकार तो उसके विपत्तियों में पड़ने पर ही किया जा सकता है ॥ ६ ॥

एवं विरुद्धदानादौ हीनोत्तमगतेः सदा ।

प्रव्रज्यादिविधाने च शास्त्रोक्तन्यायबाधिते ॥ ७ ॥

द्रव्यादिभेदतो ज्ञेयो धर्मव्याघात एव हि ।

सम्यग्माध्यस्थ्यमालम्ब्य श्रुतधर्मव्यपेक्षया ॥ ८ ॥

(जिस प्रकार धर्मबुद्धि से गृहीत ग्लान को औषध-दान की प्रतिज्ञा प्रकारान्तर से धर्मविरुद्ध होती है।) इसी न्याय से शास्त्र में वर्जित आधा कर्मादि दोष से दूषित आहार के दानादि में देय-बुद्धि एवं उत्तम पात्र होते हुए भी सदा धर्मव्याघात होता है क्योंकि उससे मुनिधर्म दूषित होता है। उसी प्रकार प्रव्रज्यादि के विधान में भी जो शास्त्रविहित के विरुद्ध होता है, उससे धर्म बाधित होता है ॥ ७ ॥

आगम विरुद्ध दान और प्रव्रज्यादि विधान के प्रसङ्ग में भी यह धर्म बाधा द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव आदि की अपेक्षा से ही जानना चाहिए। सम्यक् माध्यस्थ्यभाव का आलम्बन कर श्रुतधर्म अर्थात् आगम की अपेक्षा से धर्म-व्याघात को समझना चाहिए ॥ ८ ॥

*laukikairapi caiṣo'rtho dṛṣṭaḥ sūkṣmārtha-
darśibhiḥ.*

prakārāntarataḥ kaiścidyata etadudāhṛtaḥ.

This (implicit) sense (of demerit of vows etc.) is visualised even by intelligent worldly ones (non-Jaina puritans). Hence, it is expressed so, indirectly by some (Vālmīki etc.).

*aṅgeṣveva jarāṁ yātu yattvayopakṛtaḥ mama.
naraḥ pratyupakārāya vipatsu labhate phalaṁ.*

Your act of obligation, done towards me, should get decrepitude, exclusively, in limbs of my body, because the return of the obligation is received in distress only (by the doer person).

*evaṁ viruddhadānādaḥ hīnottamagateḥ sadā.
pravrajyādividhāne ca śāstroktanyāyabādhite.
dravyādibhedato jñeyo dharmavyāghāta eva hi.
samyagmādhyaस्थ्यamālambya śrutadharma-
vyapekṣayā.*

In the sameway to give such alms etc. as prohibited in canons and to violate the provisions made in canons in initiating etc. with a view to matters etc. (those signalled disqualified for initiation) and to consider as uprighteous to disqualified ones, infact, be known as marring the virtues. from, the view-point of canons as well as from that of impartiality.

भावविशुद्धिविचाराष्टकम्

भावशुद्धिरपि ज्ञेया येषा मार्गानुसारिणी ।

प्रज्ञापनाप्रियात्यर्थं न पुनः स्वाग्रहात्मिका ॥ १ ॥

जो मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाली है, जिसे आगम का उपदेश अत्यन्त प्रिय है और जो स्वमताग्रहशीला नहीं है, ऐसी भावशुद्धि को भी जानना चाहिए ॥ १ ॥

रागो द्वेषश्च मोहश्च भावमालिन्यहेतवः ।

एतदुत्कर्षतो ज्ञेयो हन्तोत्कर्षोऽस्य तत्त्वतः ॥ २ ॥

राग-द्वेष और मोह आत्मभावों के मालिन्य के हेतु हैं। वस्तुतः इन (राग-द्वेष-मोह) के उत्कर्ष से भाव-मालिन्य का उत्कर्ष ही समझना चाहिये ॥ २ ॥

तथोत्कृष्टे च सत्यस्मिन् शुद्धिर्वैशब्दमात्रकम् ।

स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितं नार्थवद्भवेत् ॥ ३ ॥

राग-द्वेष एवं मोह का उत्कर्ष होने पर भाव में शुद्धि, अपनी बुद्धि के कल्पना रूपी कौशल से निर्मित चित्र की तरह अयथार्थ शब्द-चित्र मात्र रहेगी ॥ ३ ॥

न मोहोऽत्रिक्तताऽभावे स्वाग्रहो जायते क्वचित् ।

गुणवत्पारतन्त्र्यं हि तदनुत्कर्षसाधनम् ॥ ४ ॥

मोह अर्थात् राग-द्वेष की उत्कटता के अभाव में कभी भी स्वमताग्रह उत्पन्न नहीं होता है। (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्य समन्वित) गुणिजनों के अधीन होना ही मोहादि के ह्रास का कारण है ॥ ४ ॥

[**Bhāvaviśuddhivicārāṣṭakam**]

*bhāvaśuddhirapi jñeyā yaiṣā mārgānusāriṇī.
prajñāpanāpriyātyartham na punaḥ svagrahātmikā.*

Bhāvaśuddhi or the auspicious disposition of mind, follows the path of liberation, delights in the preachings of canons and lacks personal prejudices.

*rāgo dveṣaśca mohaśca bhāvamālinyahetavaḥ.
etadutkarṣato jñeyo hantotkarṣo'sya tattvataḥ.*

Attachment, hatred and delusion are the causes of the impurity of mind. Alas, the rise in these (attachment etc.) in fact, be considered as the aggravation, correspondingly, in the impurity of the mind.

*tathotkrṣṭe ca satyasmin śuddhirvai śabdarnātrakam.
svabuddhikalpanāśilpanīrmitam nārthavadbhavet.*

If the attachment etc. are on the rise, the purity of mind becomes mere figment of one's imagination, existing only in words, not in the sense.

*na mohodriktatā'bhāve svāgraho jāyate kvacit.
guṇavatpāratantryam hi tadanutkarṣasādhanaṃ.*

In the absence of aggravated delusion there is never any persistence, the subservience to more enlightened ones, is the means of subsidence of the delusion.

अत एवागमज्ञोऽपि दीक्षादानादिषु भ्रुवम् ।

क्षमाश्रमणहस्तेनेत्याह सर्वेषु कर्मसु ॥ ५ ॥

इसलिए (गुणिजनों के अधीन होना मोह के ह्रास का कारण होने से) आगमज्ञाता भी दीक्षा-दान आदि सभी कार्य निश्चित रूप से क्षमाश्रमण के हाथ से ही सम्पादित करायें ॥ ५ ॥

इदं तु यस्य नास्त्येव स नोपायेऽपिवर्तते ।

भावशुद्धेः स्वपरयोर्गुणाद्यज्ञस्य सा कुतः ॥ ६ ॥

यह गुणिजनों की अधीनता तो जिसे स्वीकार्य नहीं है उसके पास मोह-क्षय का उपाय होने पर भी उसका मोह-क्षय नहीं होता है। आत्म और आत्मव्यतिरिक्त-पर के गुण-दोष को न जानने वाले की भाव-शुद्धि किस प्रकार हो सकती है ॥ ६ ॥

तस्मादासन्नमव्यस्य प्रकृत्याशुद्धचेतसः ।

स्थानमानान्तरज्ञस्य गुणवदबहुमानिनः ॥ ७ ॥

औचित्येन प्रवृत्तस्य कुग्रहत्यागतो भूशम् ।

सर्वत्रागमनिष्ठस्य भावशुद्धिर्यथोदिता ॥ ८ ॥

इस कारण से आसन्न मोक्षगामी, स्वभाव से शुद्धचित्त, गुणास्पद व्यक्तियों (आचार्यादि) के महत्त्व और सम्मान का विशेष रूप से ज्ञाता, गुणियों का अत्यधिक आदर करने वाला, गुण और योग्यता के अनुरूप प्रवृत्त होने वाला, कदाग्रह का अतिशय त्यागी और सर्वत्र सब विषयों में आगमनिष्ठ साधक की ही भावशुद्धि आगमानुसारिणी होती है ॥ ७-८ ॥

*ata evāgamajño 'pi dīkṣādānādiṣu dhruvaṃ.
kṣamāśramaṇahastenetyāha sarveṣu karmasu.*

That is why, it is said, in the case of those proficient in canons also, initiation etc. all the rituals be, definitely, performed by the hands of the kṣamāśramaṇa-Guru (Ācārya).

*idaṃ tu yasya nāstyeva sa nopāye 'pi vartate.
bhāvaśuddheḥ svaparayorguṇādyajñasya sū kutaḥ.*

A person, not possessing this subservience to the more virtuous, in spite of all means, is farther from the purity of mind, how can a person ignorant of his own virtues and that of others, attain the (purity of mind).

*tasmādāsannabhavyasya prakṛtyā śuddhacetasaḥ.
sthānamānāntarajñasya guṇavadbahumāninaḥ.
aucītyena pravṛttasya kuḡrahatyāgato bhr̥ṣam.
sarvatrāgamaniṣṭhasya bhāvaśuddhiryathoditā.*

One has the purity of mind in, real sense, due to the subordination of more virtuous, who is likely to attain salvation immediately, It is endowed with innate pure conscientious, is aware of the due respect in relation to the hierarchy (of monks) and holds the virtuous ones in esteem, is inclined appropriately (in righteous activities), is extremely non-prejudiced and is always conforming to the canonical commands.



शासनमालिन्यनिषेधाष्टकम्

यः शासनस्य मालिन्येऽनाभोगेनापि वर्तते ।
 स तन्मिथ्यात्वहेतुत्वादन्येषां प्राणिनां ध्रुवम् ॥ १ ॥
 बध्नात्थपि तदेवालं परं संसारकारणम् ।
 विपाकदारुणं घोरं सर्वानर्थविवर्धनम् ॥ २ ॥

अज्ञानतावश भी शासन की अवनति करने वाला मनुष्य अन्य प्राणियों के मिथ्यात्व का कारण होने से निश्चित रूप से सब अनर्थों की वृद्धि करने वाला होने से घोर दारुण दुःखदायी फल देने वाले एवं संसार-वृद्धि के कारण रूप मिथ्यात्व मोहनीय कर्म को बाँधता है ॥ १-२ ॥

यस्तूत्रतौ यथाशक्ति सोऽपि सम्यक्त्वहेतुताम् ।
 अन्येषां प्रतिषेधेह तदेवाप्नोत्यनुत्तरम् ॥ ३ ॥
 प्रक्षीणतीव्रसंक्लेशं प्रशमादिगुणान्वितम् ।
 निमित्तं सर्वसौख्यानां तथा सिद्धिसुखावहम् ॥ ४ ॥

यथासामर्थ्यं जिनप्रवचन (शासन) की उन्नति एवं प्रभावना में प्रवृत्त मनुष्य दूसरों के सम्यक्त्व की प्राप्ति का हेतुभूत होने से तीव्र (अनन्तानुबन्धी) कषायों को क्षीण करने वाला एवं प्रशमादि गुणों से युक्त होकर, सभी सुखों के निमित्त तथा सिद्धि-सुख को प्राप्त कराने वाले सम्यक्त्व को प्राप्त करता है ॥ ३-४ ॥

[Śāsanamālinyaṇiṣedhāṣṭakam]

*yah śāsanasya mālinye 'nābhogenāpi varttate.
 sa tanmithyātvahetutvādanyeṣāṃ prāṇināṃ dhruvaṃ.
 badhnātyapi tadevālaṃ paraṃ saṃsārakāraṇaṃ.
 vipākadāṇaṃ ghoraṃ sarvānarthavivardhanaṃ.*

The one, even ignorantly, engaged in maligning the Jina Order, thus being the cause of perversity in other creatures, certainly binds (himself) intense (deluding) Karman, which aggravates all kinds of misfortunes, leads to dire consequences and is the prime cause of world-cycle.

*yastūnnatau yathāśakti so 'pi samyaktvahetutāṃ.
 anyeṣāṃ pratipadyeha tadevāpnotyanuttaraṃ.
 prakṣīṇatīvrasuṅkleśaṃ praśamādiguṇānvitaṃ.
 nimittaṃ sarvasaukhyānāṃ tathā siddhisukhāvahaṃ.*

(Conversely) The one, engaged in the elevation of Jina-order, with the best of one's capacity, being instrumental in other's attaining enlightened world-view, himself attains that excellent (enlightened world-view). It annihilates intense miserable afflictions, is blessed with the virtues of tranquility etc., is the cause of all the delights, and is the bestower of the bliss of the salvation.

अतः सर्वप्रयत्नेन मालिन्यं शासनस्य तु ।

प्रेक्षावता न कर्तव्यं प्रधानं पापसाधनम् ॥ ५ ॥

इसलिए बुद्धिमान को सभी प्रकार से पाप के मुख्य कारणरूप जिन-शासन का मालिन्य नहीं करना चाहिए ॥ ५ ॥

अस्माच्छासनमालिन्याज्जातौ जातौ विगर्हितम् ।

प्रधानभावादात्मानं सदा दूरीकरोत्यलम् ॥ ६ ॥

मिथ्यात्व-बन्धन के हेतु रूप जिनशासन-मालिन्य के कारण प्रत्येक भव में विगर्हित या निन्दित व्यक्ति आत्मा के प्रधान भाव अर्थात् सम्यक्त्व से स्वयं को सदा दूर रखता है ॥ ६ ॥

कर्तव्या चोन्नतिः सत्यां शक्ताविह नियोगतः ।

अवन्ध्यं बीजमेषा यत्तत्त्वतः सर्वसम्पदाम् ॥ ७ ॥

जिन-शासन का मालिन्य नहीं करना, मात्र इतना ही नहीं, अपितु सामर्थ्य होने पर नियम से इस जिनशासन की उन्नति करनी चाहिए, क्योंकि शासन की प्रभावना निश्चित रूप से सब प्रकार की सम्पदा का अवन्ध्य अर्थात् फलसाधक बीज होता है ॥ ७ ॥

अत उन्नतिमाप्नोति जातौ जातौ हितोदयाम् ।

क्षयं नयति मालिन्यं नियमात्सर्ववस्तुषु ॥ ८ ॥

इस प्रकार जिनशासन की प्रभावना प्रत्येक भव में कल्याणानुबन्धी उत्कर्ष प्राप्त कराती है और जिनशासन का मालिन्य अपरिहार्य रूप से समस्त विषयों में विनाश की ओर ले जाता है ॥ ८ ॥



*ataḥ sarvaprayatnena mālinyaṁ śāsanasya tu,
prekṣāvatā na kartavyaṁ pradhānāṁ pāpasādhanaṁ.*

Therefore, an intelligent one should try his best, not to malign the Jīna-order. This (defilement) is the prime cause of the sin.

*asmācchāsanamālinyājjātau jātau vigarhitaṁ.
pradhānbhāvādātmanānaṁ sacā dūrīkariyātaṁ.*

Due to this malignity of the Jīna-order, he is doomed to births after birth and always retreats himself far away from the prime nature of the soul.

*kartavyā connatiḥ satyāṁ śaktāviha niyogataḥ.
avandhyaṁ bījameṣū yattattvataḥ sarvasampadāṁ.*

The one should inevitably try to elevate (Jīna-order) if capable of, because it always brings reward and virtually brings all kinds of good fortunes.

*ata unnatimāpnoti jātau jātau hitodayāṁ.
kṣayaṁ nayati mālinyaṁ niyamātsarvavastuṣu.*

Thus, a person (by means of the elevation of the Jīna-order) attains elevation, originating auspicious bondage in corresponding births and this (laudation) surely eliminates the malignity regarding all matters.



पुण्यानुबन्धिपुण्यादिविवरणाष्टकम्

गेहाद्गेहान्तरं कश्चिच्छोभनादधिकं नरः ।

याति यद्वत्सुधर्मेण तद्वदेव भवादभवम् ॥ १ ॥

जिस प्रकार कोई पुरुष एक रमणीय घर में से दूसरे अधिक रमणीय (रमणीयतर) घर में जाता है, उसी प्रकार पुरुष शुभ आचरण के द्वारा एक शुभ भव से दूसरे शुभतर भव में जाता है ॥ १ ॥

गेहाद्गेहान्तरं कश्चिच्छोभनादितरन्नरः ।

याति यद्वदसद्धर्मात्तद्वदेव भवादभवम् ॥ २ ॥

जिस प्रकार कोई पुरुष एक रमणीय घर में से दूसरे अशोभन घर में जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति अशुभ आचरण द्वारा एक शुभ भव से दूसरे अशुभ भव में जाता है ॥ २ ॥

गेहाद्गेहान्तरं कश्चिदशुभादधिकं नरः ।

याति यद्वन्महापापात्तद्वदेव भवादभवम् ॥ ३ ॥

जिस प्रकार कोई व्यक्ति अशुभ घर में से अशुभतर घर में जाता है, उसी प्रकार महापाप से कोई व्यक्ति अशुभ भव से अशुभतर भव में जाता है ॥ ३ ॥

गेहाद्गेहान्तरं कश्चिदशुभादितरन्नरः ।

याति यद्वत्सुधर्मेण तद्वदेव भवादभवम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार कोई पुरुष अशोभन घर से अन्य (अर्थात्) रमणीय घर में जाता है, उसी प्रकार सद्धर्म द्वारा मनुष्य अशुभ भव में से शुभ भव में जाता है ॥ ४ ॥

[Puṇyānubandhipuṇyādivivaraṇāṣṭakam]

*gehādgehāntaram kaścicchobhanādadhikam naraḥ.
yāti yadvatsudharमेṇa tadvadeva bhavādbhavam.*

As someone shifts to a more charming house evicting the previous one, similarly, due to the virtues (cause by auspicious bondage) one transmigrates to a better birth or world after the present.

*gehādgehāntaram kaścicchobhanāditarannaraḥ.
yāti yadvadānuddharmāttadvadeva bhavādbhavam.*

As one shifts to an unpleasant house, evicting a charming one, likewise due to vices, one transmigrates to inauspicious birth or world, after the auspicious one.

*gehādgehāntaram kaścidaśubhādadhikam naraḥ.
yāti yadvanmahāpāpāttadvadeva bhavādbhavam.*

As someone shifts to more unpleasant house than the evicted one, in the same way, because of heinous evils, one transmigrates to the worse birth or world than the one left previously.

*gehādgehāntaram kaścidaśubhāditarannaraḥ.
yāti yadvatsudharमेṇa tadvadeva bhavādbhavam.*

As someone shifts to pleasant house, evicting unpleasant house, similarly, on account of righteousness, one transmigrates to the auspicious birth, leaving the inauspicious one.

शुभानुबन्ध्यतः पुण्यं कर्तव्यं सर्वथा नरैः ।

यत्प्राप्तावादप्राप्तिनो जायते सर्वज्ञस्यदः ॥ ५ ॥

अतः मनुष्य को सर्वथा शुभफलदायी पुण्यकर्म करना चाहिए, जिस (शुभफलदायी कर्म) के प्रभाव से समस्त अनश्वर सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं ॥ ५ ॥

सदागमविशुद्धेन क्रियते तच्च चेतसा ।

एतच्च ज्ञानवृद्धेभ्यो जायते नान्यतः क्वचित् ॥ ६ ॥

सदा आगम द्वारा विशुद्ध चित्त से शुभ पुण्यबन्ध होता है और यह शुद्ध चित्त ज्ञानवृद्धों अर्थात् श्रुतस्थविरो की आज्ञा में रहने से उत्पन्न होता है, अन्य किसी कारण से नहीं ॥ ६ ॥

चित्तरत्नमसंक्लिष्टमान्तरं धनमुच्यते ।

यस्य तन्मुषि तं दोषैस्तस्य शिष्टा विपत्तयः ॥ ७ ॥

कषायरहित चित्त आध्यात्मिक सम्पदा कहा जाता है। जिस मनुष्य का चित्तरूपी रत्न (राग-द्वेषादि द्वारा) हर लिया गया है उसके पास विपत्तियाँ विद्यमान रहती हैं ॥ ७ ॥

दया भूतेषु वैराग्यं विधिवद्गुरुपूजनम् ।

विशुद्धा शीलवृत्तिश्च पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः ॥ ८ ॥

जीवों पर दया, वैराग्य, विधिपूर्वक गुरुपूजन और विशुद्ध शीलवृत्ति (हिंसादिरहित सद्गुणान) ये सब पुण्यानुबन्धी पुण्य के निमित्त हैं ॥ ८ ॥



*śubhānubandhyataḥ puṇyāni kartavyāni sarvathā naraiḥ.
yatprabhāvādapātinyo jāyante sarvasampadaḥ.*

Therefore, men should perform, by all means, virtuous deeds, causing auspicious bondage because all the good fortunes effected by it are non-decaying.

*sadāgamaviśuddhena kriyate tacca cetasā.
etacca jñānavṛddhebh्यो jāyate nānyataḥ kvacit.*

That (auspicious bondage) is always caused by the thought, purified by canons and this purity of thought occurs by no other means, except obeying the elder monks.

*cittaratnamasaṅkliṣṭamāntaraṁ dhanamucyate.
yasya tanmuṣitaṁ doṣaistasya śiṣṭā vipattayaḥ.*

May be that thought, innately, conform to the path (preached by canons), however, because of blessings of highly enlightened ones, it (thought) certainly, becomes clearer and attains the excellence.

*dayā bhūteṣu vairāgyaṁ vidhivadgurupūjanam.
viśuddhā śīlavṛttiśca puṇyaṁ puṇyānubandhyadaḥ.*

The compassion towards living beings detachment towards worldly life, worship of the teacher (Guru) with appropriate rituals and the righteous conduct, all being the causes of auspicious bondage, bind virtuous karmas.



पुण्यानुबन्धिपुण्यप्रधानफलाष्टकम्

अतः प्रकर्षसम्प्राप्ताद्विज्ञेयं फलमुत्तमम् ।

तीर्थकृत्वं सदैचित्य प्रवृत्त्या मोक्षसाधकम् ॥ १ ॥

इसलिए उत्कृष्टता को प्राप्त पुण्यानुबन्धी पुण्य में सदा औचित्यपूर्ण प्रवृत्ति के कारण मोक्षसाधक तीर्थङ्कर नामकर्म का उत्तम फल प्राप्त होता है, यह समझना चाहिए — ॥ १ ॥

सदैचित्यप्रवृत्तिश्च गर्भादारभ्य तस्य यत् ।

तत्रायमभिग्रहो न्याय्यः श्रूयते हि जगद्गुरोः ॥ २ ॥

उस जगद्गुरु तीर्थङ्कर महावीर का गर्भ से लेकर ही औचित्यपूर्ण आचरण दिखाई देता है। गर्भ में भी उनका न्याय-सङ्गत अभिग्रह अर्थात् प्रतिज्ञा-विशेष सुनी जाती है ॥ २ ॥

पिशुद्वेगनिरासाय महतां स्थितिसिद्धये ।

इष्टकार्यसमृद्ध्यर्थमेवम्भूतो जिनागमे ॥ ३ ॥

माता-पिता के उद्वेग अर्थात् चिन्ता को दूर करने के लिए, महान् पुरुषों की व्यवस्था स्थापित करने के लिए अर्थात् अन्य महान् लोग भी माता-पिता का उद्वेग दूरकर प्रधान मार्ग का अनुसरण करें तथा इष्ट कार्य की निष्पत्ति के लिए उनका यह अभिग्रह जिनागम (कल्पसूत्र) में भी प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

जीवतो गृहवासेऽस्मिन् यावन्मे पितराविमौ ।

तावदेवाधिवत्स्यामि गृहानहमपीष्टतः ॥ ४ ॥

जब तक मेरे माता-पिता जीवित रहेंगे तब तक मैं भी इच्छापूर्वक गृहस्थवास में रहूँगा ॥ ४ ॥

[Puṇyānubandhipuṇyapradhāna- phalāṣṭakam]

*ataḥ prakarṣasamprāptādvijñeyarū phalamuttamaṃ.
tīrthakṛtvarū sadaucityapravṛtṭyā mokṣasādhakam.*

Henceforth, the sublimated auspicious bondage bestows the most excellent reward seerhood (Tīrthan̄kara-tva) as ever inclined towards right activities leads to emancipation.

*sadaucityapravṛtṭiśca garbhādārābhyā tasya yat.
tatrāpyabhīgraho nyāyyaḥ śrūyate hi jagadguroḥ.*

From the very beginning of the descent of the foetus of the teacher of the universe in his mother's womb, his ever right inclination as well as proper secret resolute, is heard of even therein.

*pitrudveganirāsāya mahatām sthitisiddhaye.
iṣṭakāryasamṛddhyarthamevambhūto jināgame.*

To eliminate the distress of parents, to substantiate the traditions of the great men and for the prospering of his desired objective (initiation), this secret resolute was made by him as mentioned in the Jaina canon (*Kalpasūtra*).

*jīvato gṛhavāse'smin yāvanme pitarāvīmau.
tāvadevādhivatsyāmi gṛhānahamapiṣṭataḥ.*

(So long) I would also willingly live in this house as long as my present parents (Triśalā and Siddhārtha) are alive and remain in this (present) order of the house-holder.

इमौ शुश्रूषमाणस्य गृहानावसतो गुरु ।

प्रव्रज्याप्यानुपूर्व्येण न्याय्याऽन्ते मे भविष्यति ॥ ५ ॥

घर में रहते हुए अपने माता-पिता की सेवा करने से मेरी प्रव्रज्या भी अनुक्रम से अन्त में सम्यक् होगी ॥ ५ ॥

सर्वपापनिवृत्तिर्यत् सर्वथैषा सतां मता ।

गुरुद्वेगकृतोऽत्यन्तं नेयं न्यायोपपद्यते ॥ ६ ॥

जो प्रव्रज्या सब पापों की निवृत्तिरूप है और सब प्रकार से सत्पुरुषों द्वारा इष्ट है, अतः माता-पिता को अत्यन्त उद्वेग देने वाली मेरी यह प्रव्रज्या उनके जीवित रहते न्यायसङ्गत प्रतीत नहीं होती है ॥ ६ ॥

प्रारम्भमङ्गलं ह्यस्था गुरुशुश्रूषणं परम् ।

एतौ धर्मप्रवृत्तानां नृणां पूजाऽऽस्पदं महत् ॥ ७ ॥

गुरु स्थानीय माता-पिता की सेवा इस प्रव्रज्या का आदि और उत्तम मङ्गल है, क्योंकि ये माता-पिता धर्म में प्रवृत्त मनुष्यों के महान् पूजास्पद हैं ॥ ७ ॥

स कृतज्ञः पुमान् लोके स धर्मगुरुपूजकः ।

स शुद्धधर्मभाक् चैव य एतौ प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

वही मनुष्य इस संसार में कृतज्ञ है, वही धर्म और गुरु का पूजक है और वही शुद्ध धर्म का पात्र है, जो माता-पिता की पूजा करता है ॥ ८ ॥



*imau śuśrūṣamāṇasya gṛhānāvasato gurū.
pravrajyāpyānupūrvyeṇa nyāyyā'nte me bhaviṣyati.*

By attending my parents and living as householder (for the purpose) my renunciation also would be in due order and proper, at the termination (of service).

*sarvapaṇivṛttiryaṭ sarvathaiṣā satām matā.
gurūdvegakṛto'tyantām ncyām nyāyyopapadyate.*

Because, the abstention from all the sins by all means, is desired by learned in this renunciation, hence (that renunciation) causing too much distress to the parents, is not proper.

*prārambhamāṅgalam hyasyā guruśuśrūṣaṇam paraṇ.
etau dharmapravṛttānām nṛṇām pūjā'spadaṁ mahat.*

Attending upon the parents, is virtually the excellent primary benediction of the renunciation, because for the men, pursuing the path of liberation, they (parents) are the esteemed object of worship.

*sa kṛtajñaḥ pumān loke sa dharmagurupūjakaḥ.
sa śuddhadharmabhāk caiva ya etau pratipadyate.*

He, the one, intent upon the service of parents, is grateful, is worshipping the religious teacher and pursues the pure religion.



तीर्थकृद्दानमहत्त्वसिद्ध्यष्टकम्

जगद्गुरोर्महादानं सङ्ख्यावच्छेत्प्रसङ्गतम् ।

शतानि त्रीणि कोटीनां सूत्रमित्यादि चोदितम् ॥ १ ॥

जगद्गुरु तीर्थङ्कर का दान संख्या में परिमित होने से इसे महादान कहना असङ्गत होगा क्योंकि आचाराङ्ग, आवश्यक-निर्युक्ति आदि सूत्रों में इसे ३०० करोड़ स्वर्ण मुद्रा (३,८८,८०,००,०००) कहा गया है ॥ १ ॥

अन्यैस्त्वसङ्ख्यमन्येषां स्वतन्त्रेषूपवर्ण्यते ।

तत्तदेवेह तद्युक्तं महच्छब्दोपपत्तितः ॥ २ ॥

जिस प्रकार दूसरे बौद्धों आदि ने बोधिसत्त्वों के दान को अपने शास्त्रों में असंख्य (अपरिमित) वर्णित किया है, यदि उनके दान में महत् शब्द उपपत्ति से सङ्गत है तो उसी प्रकार तीर्थङ्कर के दान के विषय में भी, महत् शब्द युक्तिसङ्गत है ॥ २ ॥

ततो महानुभावत्वात्तेषामेवेह युक्तिमत् ।

जगद्गुरुत्वमखिलं सर्वं हि महतां महत् ॥ ३ ॥

इस कारण महादान द्वारा ही उन तीर्थङ्करों का महानुभावत्व युक्तिसङ्गत है। इसी प्रकार उनका सम्पूर्ण जगद्गुरुत्व भी युक्तिसङ्गत है, क्योंकि महान् पुरुषों का सभी कुछ महान् होता है ॥ ३ ॥

एवमाहेह सूत्रार्थं न्यायतोऽनवधारयन् ।

कश्चिन्मोहात्तत्तस्तस्य न्यायलेशोऽत्र दृश्यते ॥ ४ ॥

मोहवश जैन सूत्र के अर्थ को न्यायानुसार न समझते हुए कुछ लोग इस प्रकार परिमित संख्या वाले दान को महत् दान न होना कहते हैं। इसलिए

[Tīrthakṛddānamahattvasiddhyaṣṭakam]

*jagadgurormahādānam saṅkhyāvaccetyasaṅgataṃ.
śatāni trīṇi koṭīnāṃ sutramityādi coditaṃ.*

As mentioned three hundred crores etc. in the canons being numerable (to describe) the charity of the teacher of the Universe as Great is not proper.

*anyaistvasaṅkhyamanyēṣāṃ svatantreṣūpavarṇyate.
tattadeveha tadyuktaṃ mahacchabdopapattitaḥ.*

Others (Buddhists) depict their (Bodhisattva's) alms in their canons as innumerable hence, here, that (innumerable charity) specified by the term Great (Mahat) is so (Great charity) justified.

*tato mahānubhāvatvātteṣāmeveha yuktimat.
jagadgurutvamakhilāṃ sarvaṃ hi mahatāṃ mahat.*

Therefore, on account of this magnanimity, only theirs (Bodhisattvas charity alone) is, appropriately, the Great one in this world, their being the teacher of the universe is also appropriate. Surely, the entire activities of the Great persons are magnanimous.

*evamāheha sūtrārthaṃ nyāyato'navadhārayan.
kaścinmohāttatastasya nyāyaleśotra darśyate.*

Not ascertaining logically, some deluded Buddhists explained thus (as already said), the meaning

युक्तिपूर्वक उनका यहाँ समाधान किया जा रहा है ॥ ४ ॥

महादानं हि संख्यावदर्थ्यभावाज्जगद्गुरोः ।

सिद्धं वरवरिकातस्तस्याः सूत्रे विधानतः ॥ ५ ॥

परिमित होकर भी जगद्गुरु तीर्थङ्कर का दान महादान सिद्ध है, क्योंकि कोई अर्थी (याचक) शेष न रहने से और 'वरवरिका' अर्थात् माँगो जो माँगना है, इस प्रकार शास्त्र में विधान होने से उन जगद्गुरु का दान महादान है ॥ ५ ॥

तथा सह कथं संख्या युज्यते व्यभिचारतः ।

तस्माद्यथोदितार्थं तु संख्याग्रहणमिष्यताम् ॥ ६ ॥

उस वरवरिका अर्थात् इच्छित दान के साथ संख्या का विसंवाद होने से संख्या की सङ्गति नहीं बैठती है तो यथाकथित आशय वाले अर्थी (याचक) के अभावरूप अर्थ में संख्या का ग्रहण समझें ॥ ६ ॥

महानुभावताप्येषा तद्भावे न यदर्थिनः ।

विशिष्टसुखयुक्तत्वात्सन्ति प्रायेण देहिनः ॥ ७ ॥

धर्मोद्धताश्च तद्योगात्ते तदा तत्त्वदर्शिनः ।

महन्महत्त्वमस्यैवमयमेव जगद्गुरुः ॥ ८ ॥

उनकी महानुभावता अर्थात् उदारता भी इसी में है कि उनके होने पर कोई याचक नहीं रहता है क्योंकि प्रायः सभी प्राणी विशिष्ट सुख वाले होते हैं, धर्म में तत्पर होते हैं और उनके सहयोग से सत्यद्रष्टा बनते हैं। यही उनकी महती महता है, उनका जगद्गुरुत्व है ॥ ७-८ ॥



of the Jaina sūtras, a bit of logic is shown to them, herein.

*mahādānaṁ hi saṅkhyāvadārthyabhāvāj jagadguroḥ.
siddhaṁ varavarikāstasyāḥ sūtre vidhānataḥ.*

Though numeral yet due to the absence of alm-seekers as well as because of his proclamation : 'ask for alms', 'ask for alms' the magnanimity of his charity is established, and it (proclamation) is depicted in canonical sūtras.

*tayā saha kathaṁ saṅkhyā yujyate vyabhicārtaḥ.
tasmādyathoditārthaṁ tu saṅkhyāgrahaṇamiṣyatām.*

Being contradictory, enumerated charity and that (Varavarikā : ask for alms) can not go together, therefore, the desired object of that depicted numeral (charity) may be taken as referred to those of alms seekers.

*mahānubhāvatāpyeṣā tadbhāve na yadārthinaḥ.
viśiṣṭasukhayuktratvātsanti prāyeṇa dehinaḥ.
dharmodyatāśca tadyogātte tadā tattvadarśinaḥ.
mahanmahattvamasyaivamayameva jagadguruḥ.*

Its (Charity's) magnanimity ensues from the absence of alm-seekers in his (seer's) presence. because almost all the creatures become blessed with excellent pleasure in his presence. All the creatures in his contact become inclined towards virtues and become seers of the reality. Here lies his magnanimity (exalted dignity) and thus, he is the only teacher of the universe.



तीर्थकृद्दाननिष्फलतापरिहाराष्टकम्

कश्चिदाहास्य दानेन क इवार्थः प्रसिध्यति ।

मोक्षगामी भुवं ह्येष यतस्तेनैव जन्मना ॥ १ ॥

कुछ कहते हैं कि इस दान से उनका कौन सा अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध होता है क्योंकि निश्चित रूप से वे इसी जन्म में मोक्षगामी हैं ॥ १ ॥

उच्यते कल्प एवास्य तीर्थकृन्नामकर्मणः ।

उदयात्सर्वसत्त्वानां हित एव प्रवर्तते ॥ २ ॥

(आचार्य हरिभद्र का प्रत्युत्तर) कहा जाता है कि तीर्थङ्कर-नामकर्म के उदय से वे समस्त प्राणियों के कल्याण की ही प्रवृत्ति करते हैं ॥ २ ॥

धर्माङ्गख्यापनार्थं च दानस्यापि महीमतिः ।

अवस्थौचित्ययोगेन सर्वस्यैवानुकम्पया ॥ ३ ॥

(दाता एवं याचक दोनों के सम्बन्ध में) उचित परिस्थितियों के योग से (साधु एवं गृहस्थ) सभी की अनुकम्पा हेतु धर्म के अङ्ग के रूप में दान की प्रसिद्धि के लिये महामति भगवान् ने दान दिया ॥ ३ ॥

शुभाशयकरं ह्येतदाग्रहच्छेदकारि च ।

सदभ्युदयसाराङ्गमनुकम्पाप्रसूति च ॥ ४ ॥

अनुकम्पाजनित यह दान प्रशस्त चित्त का जनक, भय का नाश करनेवाला, शुभ पुण्य के अभ्युदय में उत्तम अर्थात् प्रधान कारण है ॥ ४ ॥

[Tīrthakṛddānaniṣphalatāparihārāṣṭakam]

*kaścidāhāsyā dānena ka ivārthaḥ prasiddhyati.
mokṣagāmī dhruvaḥ hyeṣa yatastenaiva janmanā.*

One may say as to what purpose is served by his (Śeer's) act of charity when he is, certain to attain liberation in the same birth.

*ucyate kalpa evāsyā tīrthakṛnnāmakarmaṇaḥ.
udayātsarvasattvānām hita eva pravarttate.*

(Haribhadra's reply) It is said that this is (his) prime duty because of the rise of Tīrthaṅkara-nāmakarman he is bound to be inclined towards the welfare of all the creatures.

*dharmāṅgukhyāpanārthaṁ ca dānasyāpi mahāmatiḥ.
avasthaucityayogena sarvasyaivānukampayā.*

Because of the appropriate occasion (caused by ideal combination of donor and alm-seekers), also due to compassion towards the creatures as a whole, and to establish (the charity) as the part of the virtue, the charity is made even by Great minded (Lord Mahāvīra).

*śubhāśayakaraṇḥ hyetadāgrahacchedakāri ca.
śadabhyudayasārāṅgamanukampāprasūti ca.*

This act of charity, emanating from compassion, causes auspicious mind and eliminates attachment and is the main cause in the rise of meritorious karman.

ज्ञापकं चात्र भगवान् निष्क्रान्तोऽपि द्विजन्मने ।

देवदूष्यं ददद्दीमाननुकम्पाविशेषतः ॥ ५ ॥

यहाँ (साधु-प्रदत्त) दान विषयक दृष्टान्त स्वयं भगवान् महावीर हैं, निष्क्रान्त (गृहस्थाश्रम त्यागी) ज्ञानी प्रभु अनुकम्पा से ब्राह्मण को देवदूष्य देते हैं ॥ ५ ॥

इत्थमाशयभेदेन नातोऽधिकरणं मतम् ।

अपि त्वन्यद्गुणस्थानं गुणान्तरनिबन्धनम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार आशय भेद होने से गृहस्थ का दान पापकारी प्रवृत्ति नहीं मानी गयी है, अपितु देशविरत सम्यग्दृष्टि रूप गृहस्थ के पञ्चम गुणस्थान को दान (अतिथि संविभाग व्रत) के द्वारा अन्य सर्वावसर्त रूप छठे गुणस्थान का हेतु माना गया है ॥ ६ ॥

ये तु दानं प्रशंसन्तीत्यादिसूत्रं तु यत्स्मृतम् ।

अवस्थाभेदविषयं द्रष्टव्यं तन्महात्मभिः ॥ ७ ॥

‘जो दान की प्रशंसा करते हैं’ इत्यादि जो सूत्र (श्लोक) कहे गये हैं, उसे ज्ञानियों ने दाता और पात्र की अवस्था विशेष को लक्ष्यकर कहा है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ७ ॥

एवं न कश्चिदस्यार्थस्तत्त्वतोऽस्मात्प्रसिद्ध्यति ।

अपूर्वः किन्तु तत्पूर्वमेवं कर्म प्रहीयते ॥ ८ ॥

इस प्रकार तीर्थङ्कर के दान से तत्त्वतः कोई अपूर्व-अभिनव प्रयोजन सिद्ध नहीं होता परन्तु इस प्रकार के दान से पूर्व में बँधे हुए कर्म क्षीण होते हैं ॥ ८ ॥



*jñāpakarṇi cātra bhagavān niṣkrānto 'pi dvijanmane.
devadūṣyaṁ dadaddhīmānanukampāviśeṣataḥ.*

There is also an instance, of the enlightened Lord Mahāvīra (illustrating the charity of monks) of gifting away his devadūṣya (the celestial cloth) to the Brahmin. because of compassion, even after renunciation.

*itthamāśayubhedena nāto 'dhikaraṇarṇi mataṁ.
apitvadanyadguṇasthānairṇ guṇāntaranibandhanairṇ.*

Thus it, (this act of charity) with a particular (compassionate) disposition of mind, is not to be considered as sinful, instead (be known) as the cause of the other (6th) stage of spiritual development (of monks) in succession to that (5th one of the laities).

*ye tu dānaṁ praśaṁsanti tyādisūtraṁ tu yatsmṛtaṁ.
avasthābheda viśayaṁ draṣṭavyaṁ tanmahātmabhiḥ.*

The aphorisms like propounding, "Those who praise charity etc." be considered so in a particular context by the great saints.

*evairṇ na kaścidas yārthastattvato 'smātprasiddhyati.
apūrvah kintu tatpūrvamevairṇ karma prahīyate.*

Thus, by Seer's charitable act, no new purpose is really achieved but by it the old karmas are destructed.

राज्यादिदानेऽपि-तीर्थकृतो-दोषाभाव- प्रतिपादनाष्टकम्

अन्यस्त्वाहास्य राज्यादिप्रदाने दोष एव तु ।

महीधिकरणत्वेन तत्त्वमार्गेऽविचक्षणः ॥ १ ॥

शङ्का — तत्त्वमार्ग समझने में अकुशल लोग कहते हैं कि दीक्षित होते समय राज्यादि के दान में दोष है, क्योंकि वह महापाप का आधारभूत है ॥ १ ॥

अप्रदाने हि राज्यस्य नायकाभावतो जनाः ।

मिथो वै कालदोषेण मर्यादाभेदकारिणः ॥ २ ॥

विनश्यन्त्यधिकं यस्मादिह लोके परत्र च ।

शक्तौ सत्यामुपेक्षा च युज्यते न महात्मनः ॥ ३ ॥

तस्मात्तदुपकाराय तत्प्रदानं गुणावहं ।

परार्थदीक्षितस्यास्थ विशेषेण जगद्गुरोः ॥ ४ ॥

राज्य दूसरों को न देने पर स्वामी के अभाव में काल-दोष अर्थात् अवसर्पिणी काल के प्रभाव से स्त्री, धनादि के विषय में स्व-पर की मर्यादा का उल्लङ्घन करने वाले लोग परस्पर लड़कर इस लोक और परलोक में अत्यधिक विनाश को प्राप्त होंगे। अतः उस विनाश को रोकने की सामर्थ्य होने से महात्माओं द्वारा राज्य-व्यवस्था की उपेक्षा करना युक्तिसङ्गत नहीं है। इस कारण परोपकार के लिए दीक्षित होने वाले जगद्गुरु तीर्थङ्करों का इस जगत् के उपकार के लिए अन्य को राज्य प्रदान करना विशेष रूप से गुणकारी है ॥ २-४ ॥

[Rājyādidāne'pi-tīrthakṛto-doṣabhāva- pratipādanāṣṭakam]

*anyastvāhāsya rājyādipradāne doṣa eva tu.
mahādhikaraṇatvena tattvairgoc'vicakṣaṇaḥ.*

Others, not versed in comprehending the real path, may say that handing over of the kingdom etc. (by teacher of the universe) is, certainly, a demerit being the cause of the great vices.

*apradāne hi rājyasya nāyakābhāvato janāḥ.
mitho vai kāladoṣeṇa maryādābheda-kāriṇaḥ.
vinaśyantyadhikaṁ yasmādiha loke paratra ca.
śaktau satyāmupekṣā ca yujyate na mahātmanāḥ.
tasmāttadupakārāya tatpradānaṁ guṇāvaham.
parārthadīkṣitasyaśya viśeṣeṇa jagadguroḥ.*

Definitely, if throne is not handed over, the people, in the absence of its leader and also due to the defilement of time, will mutually violate the limitations, hence will suffer heavily in this world and the other. Therefore, being competent, the negligence on the part of the Great soul, is not viable. That is why from the view-point of philanthropy, giving away that (the state etc.), especially, by teacher of the universe, initiated for benevolence, is virtue.

एवं विवाहधर्मादौ तथाशिल्पनिरूपणे ।

न दोषो ह्युत्तमं पुण्यमित्थमेव विपच्यते ॥ ५ ॥

इसी प्रकार विवाह करने, कुल, ग्राह्य और राज्य-धर्म को अङ्गीकार करने में तथा शिल्प-निरूपण में भी दोष नहीं हैं, कारण कि उत्तम पुण्य वाले तीर्थङ्कर नामकर्म का विपाक इसी रीति से होता है ॥ ५ ॥

किञ्चेहाधिकदोषेभ्यः सत्त्वानां रक्षणं तु यत् ।

उपकारस्तदेवैषां प्रवृत्त्यङ्गं तथास्य च ॥ ६ ॥

इसके अतिरिक्त प्राणिमयों का अधिक दोषों से रक्षणरूप जो परांपकार है, वही तीर्थङ्करों की प्रवृत्ति का कारण है ॥ ६ ॥

नागादे रक्षणं यद्वद्गर्ताद्याकर्षणेन तु ।

कुर्वन्न दोषवांस्तद्वदन्यथाऽसम्भवादयम् ॥ ७ ॥

जिस प्रकार सर्पादि से रक्षा के लिए किसी को गर्तादि में खींचने से कोई दोष नहीं है, उसी प्रकार अन्य विकल्प न होने से विवाह-धर्मादि का उपदेश करने वाला दोषी नहीं है ॥ ७ ॥

इत्थं चैतदिदं दृश्यमन्यथा देशनाप्लयम् ।

कुधर्मादिनिमित्तत्वाद्दोषायैव प्रसज्यते ॥ ८ ॥

इस प्रकार इस राज्यादि के दान को निर्दोष मानना चाहिये अन्यथा धर्मदेशना भी कुधर्म, कुशास्त्र आदि में निमित्त रूप होने से सदोष कही जायगी ॥ ८ ॥

*evam vivāhadharmādaṁ tathā śilpanirūpaṇe.
na doṣo hyuttamaṁ puṇyamīttameva vipacyate.*

Thus, in marriage duties etc. as well as in demonstrating crafts etc. there is no sin because excellent merit (auspicious Tīrthaṅkara nāmakarma) is realised in this way.

*kīñcehādhikadoṣebhyaḥ sattvānāṁ rakṣaṇaṁ tu yat.
upakāraṣṭadevavaiśāṁ pravṛttyaṅgaṁ tathāśya ca.*

Moreover, the motive, of that service of the creatures (aimed at) protecting them from more sins, is the cause of his (Seer's) inclination that way (in giving away state etc.).

*nāgāde rakṣaṇaṁ yadvadgartādyākaraṇena tu.
kurvanna doṣavāṁstadvadanyathā'sambhavādayaṁ.*

Just as one, pulling out somebody from the pits etc. to protect from snakes etc., is not guilty, similarly, (in granting the state etc., he does not commit sin) because of avoiding otherwise (dire consequences).

*itthaṁ caitadihaśṭavyamanyathā deśanūplayaṁ.
kudharmādinimittatvāddoṣāyaiva prasajyate.*

In this way, (to avoid dire consequences) by inflicting (little harm) this (handing over state etc.) be considered (blemishless) otherwise precept etc. also being the cause of vices etc. (will be considered) as producing demerit.

सामायिकस्वरूपनिरूपणाष्टकम्

सामायिकं च मोक्षाङ्गं परं सर्वज्ञभाषितम् ।

वासीचन्दनकल्पानामुक्तमेतन्महात्मनाम् ॥ १ ॥

सर्वज्ञ प्रणीत, मोक्ष का प्रधान कारण यह सामायिक काटने वाली कुल्हाड़ी को भी सुवासित करने वाले चन्दन वृक्ष के समान अपकारी के प्रति भी ठपकार करने वाले महात्मा पुरुषों को ही प्राप्त होती है ॥ १ ॥

निरवद्यमिदं ज्ञेयमेकान्तेनैव तत्त्वतः ।

कुशलाशयरूपत्वात्सर्वयोगविशुद्धितः ॥ २ ॥

इस सामायिक चरित्र को शुभ परिणामरूप होने से तथा मन, वचन, काय — इन तीनों योगों की शुद्धिरूप होने से सर्वथा निष्पाप जानना चाहिये ॥ २ ॥

यत्पुनः कुशलं चित्तं लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम् ।

तत्तथोदार्ययोगेऽपि चिन्त्यमानं न तादृशम् ॥ ३ ॥

(सामायिक मोक्ष का कारण है) अतः जो लोकदृष्टि से शुभ मन रूप प्रतिष्ठित है वह लौकिक उदारता वाला हो भी तो उसे सामायिक युक्त नहीं समझना चाहिए ॥ ३ ॥

मय्येव निपतत्वेतज्जगदुश्चरितं यथा ।

मत्सुचरितयोगाच्च मुक्तिः स्यात्सर्वदेहिनाम् ॥ ४ ॥

जैसा कि बोधिसत्त्व बुद्ध ने कहा — “जगत् के जीवों का सारा दुश्चरित मेरे में आ जाय और मेरे सुचरित्र के योग से सभी प्राणियों को मोक्ष मिले ॥ ४ ॥

[Sāmāyikasvarūpanirūpaṇāṣṭakam]

*sāmāyikaṁ ca mokṣāṅgaṁ purāṇaṁ sarvajñabhāṣitaṁ.
vāsīcandanakalpānāmuktametanmahātmanāṁ.*

Preached by omniscient, this equanimity occurs to the Great souls, who resemble the sandal (tree) emitting perfume to the carpenter's adze (cutting – doing ill towards it) and is the prime cause of liberation.

*niravadyamīdāṁ jñeyanickāntenaiva tattvataḥ.
kuśalāśayarūpatvātsarvayogaviśuddhitaḥ.*

This equanimous conduct, being auspicious in nature, all the activities (mental, vocal and physical), being pure therein, be really considered absolutely sinless.

*yatpunaḥ kuśalaṁ cittaṁ lokadṛṣṭyā vyavasthitaṁ.
tattathaudāryayoge'pi cintyamānaṁ na tādṛśaṁ.*

But that auspicious mind, well known empirically also caused by magnanimity, is not to be thought of like that (equanimous conduct).

*mayyeva nipatatvetajjagadduṣcaritaṁ yathā.
matsucaritayogācca muktiḥ syātsarvadehināṁ.*

May, all the vicious conduct of the world, descent on me, and as an effect of my righteous conduct, all the worldly creatures attain salvation.

असम्भवीदं यद्वस्तु बुद्धानां निर्वृतिश्रुतेः ।

सम्भविष्येति त्वत्त्वं न इत्येवैकस्यास्य निर्वृत्तौ ॥ ५ ॥

किन्तु यह असम्भव है क्योंकि 'बुद्ध मोक्ष में गये हैं' — ऐसा उनके ही आगम कहते हैं, पुनः इसे यदि सम्भव भी मानें तो एक भी मनुष्य के शेष रहते बुद्धों को मोक्ष प्राप्त नहीं होगा ॥ ५ ॥

तदेवं चिन्तनं न्यायात्तत्त्वतो मोहसङ्गतम् ।

साध्यवस्थान्तरे ज्ञेयं बोध्यादेः प्रार्थनादिवत् ॥ ६ ॥

यह चिन्तन उपर्युक्त सम्भवित-असम्भवित दृष्टि से अथवा परमार्थ-दृष्टि से तो मोहयुक्त है किन्तु साधकावस्था में अर्थात् सराग अवस्था में सम्भव है, जैसे बोधिलाभ के लिए प्रार्थना की जाती है वैसे वह प्रार्थना भी सम्भव है ॥ ६ ॥

अपकारिणि सद्बुद्धिर्विशिष्टार्थप्रसाधनात् ।

आत्मम्भरित्वपिशुना तदपायानपेक्षिणी ॥ ७ ॥

अपकर्त्ता पर उपकार की सद्बुद्धि विशिष्ट अर्थ — मोक्ष-प्राप्ति में साधन होने से मात्र आत्मोन्नति की सूचक है, क्योंकि अपकारी के दुःख और अहित से वह निरपेक्ष होता है ॥ ७ ॥

एवं सामायिकादन्यदवस्थान्तरभद्रकम् ।

स्याच्चित्तं तत्तु संशुद्धेर्ज्ञेयमेकान्तभद्रकम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार सामायिक से भिन्न अवस्था में भी चित्त कुछ समय के लिए कल्याणप्रद होता है, किन्तु सामायिक अर्थात् समभाव की साधना को तो पूर्णतया शुद्ध होने से सर्वथा कल्याणकर जानना चाहिए ॥ ८ ॥

*asambhavīdaṁ yadvastu buddhānāṁ nīrvṛtiśruteḥ.
sambhavīte 'tviyaṁ na syāttatraikasyāsyānīrvṛtau.*

But this (volition) is inconsistent because the emancipation of the Buddhas is mentioned in their canons, if this (volition) becomes consistent, this (Buddha's liberation) would not happen, in case even a single (worldly creature) remained to be liberated.

*tadevaṁ cintanaṁ nyāyāttattvato mohasaṅgataṁ.
sādhvavasthāntare jñeyaṁ bodhyādeḥ prārthanādivat.*

The deluded thought of this kind, both logically and really be considered as a prayer etc. by one, not of monk order, for (attaining) enlightenment etc.

*apakāriṇi sabbuddhirviśiṣṭārthprasādhanāt.
ātmambharitvapiśunā tadapāyānapekṣiṇī.*

This auspicious thought accomplishing salvation, exclusively manifesting the development of the soul, is disinterested in wishing the harm to that (ill-door).

*evaṁ sāmāyikādanyadavasthāntarabhadraṇi.
syāccitāṇi tattva saṁśuddherjñeyamckāntabhadraṇi.*

Thus, barring the pure equanimous state, one's thought is auspicious only in different state (deluded state) but in that (state of pure equanimity) the mind should be considered absolutely auspicious.

केवलज्ञानाष्टकम्

सामायिकविशुद्धात्मा सर्वथा घातिकर्मणः ।

क्षयात्केवलमाप्नोति लोकालोकप्रकाशकम् ॥ १ ॥

सामायिक अर्थात् समभाव के द्वारा घाति कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से विशुद्ध आत्मा को लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त होता है ॥ १ ॥

ज्ञाने तपसि चारित्रे सत्येवास्योपजायते ।

विशुद्धिस्तदतस्तस्य तथाप्राप्तिरिहेष्यते ॥ २ ॥

ज्ञान, तप और चारित्र से युक्त होने पर ही इस आत्मा की सम-
भारूपी सामायिक से विशुद्धि होती है। इस कारण उस केवलज्ञान की विशुद्ध
सामायिक द्वारा प्राप्ति यहाँ अभिप्रेत है ॥ २ ॥

स्वरूपमात्मनो ह्येतत्किन्त्वनादिमलावृतम् ।

जात्यरत्नांशुवत्तस्य क्षयात्स्यात्तदुपायतः ॥ ३ ॥

निश्चित रूप से केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव है परन्तु यह आत्मा
अनादिकाल से मल से आवृत है। (अनादिकाल से आवृत होने पर भी)
जिस प्रकार माणिक्यादि उत्तम रत्नों की प्रकाश-किरणों के मल अर्थात् आवरण
उपायों से दूर होते हैं उसी प्रकार सामायिक आदि उपायों द्वारा आत्मा का
मल दूर होने पर केवलज्ञान प्रकट होता है ॥ ३ ॥

आत्मनस्तत्स्वभावत्वाल्लोकालोकप्रकाशकम् ।

अत एव तदुत्पत्तिसमयेऽपि यथोदितम् ॥ ४ ॥

लोक और अलोक को प्रकाशित करना अर्थात् जानना — यह

[Kevalajñānāṣṭakam]

*sāmāyikaviśuddhātmā sarvathā ghātikarmaṇaḥ.
kṣayātkevalamāpnoti lokālokaprakāśakam.*

The soul, purified by equanimity and due to the total elimination of destructive karmas, attains Omniscience – the illuminator of the universe and the non-universe.

*jñāne tapasi cāritre satyevāsyopajāyate.
viśuddhistadatastasya tathāprāptirihesya.*

The purity of it (soul's equanimity) is attained only when it (soul) is endowed with the knowledge, austerity and conduct, hence attainment of that (Omniscience) is intended that way (by pure equanimity).

*svarūpamātmāno hyetatkinsvanādimalāvṛtam.
jātyaratnānśuvattasya kṣayātsyāttadupāyataḥ.*

Certainly, Omniscience is the intrinsic nature of the soul, but from the time immemorial it is covered with karmic impurity. Like the removal of (the impurity) of the rays of the prominent gems by devices, due to the elimination of the karmic impurity by means (practice of equanimity etc.) that (omniscience) originates.

*ātmanastatsvabhāvatvāllokālokaprakāśakam.
ata eva tadutpattirsamaye'pi yathoditam.*

The soul, inherently being that (illuminator or knower) illuminates the universe and the non-universe,

आत्मा का स्वभाव होने से केवलज्ञान भी अपनी उत्पत्ति के समय में ही लोकालोक प्रकाशक होता है ॥ ४ ॥

आत्मस्थमात्मधर्मत्वात्संवित्त्वा चैवमिष्यते ।

गमनादेरयोगेन नान्यथा तत्त्वमस्य तु ॥ ५ ॥

वह केवलज्ञान आत्मा का धर्म होने से, स्वानुभव से आत्मा में रहते हुए ही जाना जाता है, केवलज्ञान आत्मा से बाहर नहीं जाता अन्यथा इसका केवलत्व ही नहीं रह जायगा ॥ ५ ॥

यच्च चन्द्रप्रभाद्यत्र ज्ञातं तज्ज्ञातमात्रकम् ।

प्रभा पुद्गलरूपा यत्तद्धर्मो नोपपद्यते ॥ ६ ॥

(शङ्का — यदि केवल ज्ञान 'आत्मस्थ' ही है तो चन्द्रप्रभा से इसकी उपमा कैसे दी जाती है ? उत्तर —) जो चन्द्रप्रभा आदि से केवलज्ञान का दृष्टान्त दिया जाता है वह दृष्टान्त मात्र ही है, क्योंकि पुद्गलरूप चन्द्रप्रभा आत्मा के धर्म के रूप में घटित नहीं होती ॥ ६ ॥

अतः सर्वगताभासमप्येतन्न यदन्यथा ।

युज्यते तेन सत्र्यायात्संवित्त्वादोऽपि भाव्यताम् ॥ ७ ॥

चन्द्रप्रभा का प्रकाश लोकालोक में व्याप्त नहीं होता, अतः सर्वलोक प्रकाशक ज्ञान के साथ उसकी साधर्म्यता युक्तिसङ्गत नहीं, इस पर सल्लक्षण और स्वानुभूति से विचार करना युक्तिसङ्गत होगा ॥ ७ ॥

नाद्रव्योऽस्ति गुणाऽलोके न धर्मान्तौ विभुर्न च ।

आत्मा तद्गमनाद्यस्य नाऽस्तु तस्माद्यथोदितम् ॥ ८ ॥

कोई भी गुण बिना द्रव्य के नहीं है, अलोक में गति-स्थिति सहायके धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय नहीं है और आत्मा सर्वव्यापक नहीं है। इसलिए आत्मा के बाहर केवलज्ञान का गमनागमन नहीं, इसी कारण केवलज्ञान यहाँ जैसा कहा गया है, उसी प्रकार से है अर्थात् आत्मस्थ होकर ही सर्वलोकालोक प्रकाशक है ॥ ८ ॥

hence at the time of its origin also, that (Omniscience) is as already mentioned (the illuminator of the universe and the non-universe.

*ātmasthamātmadharmatvātsamvittyā caivamiṣyate.
gamaśācāraṣogena nānyathā tattvamasya tu.*

The omniscience, as the characteristic of soul is realised through consciousness, while pervading it (the soul). The Omniscience alienated from soul ceases to exist, beacuse essence can not exist otherwise (without its substratum).

*yacca candraprabhādyatra jñātam tajjñātamātrakam.
prabhā pudgalarūpā yattaddharmo nopapadyate.*

Here the analogy between omniscience and moon light is merely an (incomplete) analogy. Because light being a matter can not be a characteristic of the moon (as non-material Omniscience is that of the soul).

*ataḥ sarvagatābhāsamapyetanna yadanyathā.
yujyate tena sunnyāyātsamvittyādo'pi bhāvyatām.*

Again, the analogy between the luster of moon-light, not pervading the whole (universe and non-universe) and all-pervading Omniscience is not proper. It will be proper to consider it (Omniscience) on the basis of its real characteristics, as well as feelings etc.

*nādravyo'sti guṇāloke na dharmāntau vibhurna ca.
ātmā tadgamanādyasya nā'stu tasmādyathoditam.*

Characteristics (can not) exist without matter (substratum), the mediums of the motion and the rest is absent in the non-universe. The soul is not all-pervading. The going etc. of the Omniscience, outside soul is not found, hence, Omniscience is as already said (illuminates the whole universe and resides in the soul).

तीर्थकृद्देशनाष्टकम्

वीतरागोऽपि सद्बुद्धतीर्थकृन्नामकर्मणः ।

उदयेन तथा धर्मदेशनायां प्रवर्तते ॥ १ ॥

तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय होने से वीतराग होने पर भी वे धर्मदेशना में प्रवृत्त होते हैं ॥ १ ॥

वरबोधित आरभ्य परार्थोद्यत एव हि ।

तथाविधं समादत्ते कर्म स्फीताशयः पुमान् ॥ २ ॥

श्रेष्ठ बोधि प्राप्त होने पर अर्थात् उत्तम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होते ही प्रारम्भ से ही परोपकार में तत्पर, उदार आशय वाले मनुष्य को निश्चित रूप से तीर्थङ्कर नामकर्म बंधता है ॥ २ ॥

यावत्सन्तिष्ठते तस्य तत्तावत्सम्भवर्तते ।

तत्स्वभावत्वतो धर्मदेशनायां जगद्गुरुः ॥ ३ ॥

जब तक तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय विद्यमान रहता है, तब तक जगद्गुरु धर्मदेशना उनका स्वभाव होने से वे धर्मदेशना में प्रवृत्त रहते हैं ॥ ३ ॥

वचनं चैकमप्यस्य हितां भिन्नार्थगोचराम् ।

भूयसामपि सत्त्वानां प्रतिपत्तिं करोत्यलम् ॥ ४ ॥

उन जगद्गुरु का मात्र एक वचन भी, अनेक जीवों को विविध वस्तुओं के सन्दर्भ में हितकारक पूर्ण प्रतीति अच्छी प्रकार से करा देता है ॥ ४ ॥

[Tīrthakṛddeśanāṣṭakam]

*vītarāgo'pi sadvedyatīrthakṛnnāmakarmaṇaḥ.
udayena tathā dharmadeśanāyām pravartate.*

The detached one is also engaged in the said manner in delivering the religious sermons because of the rise of pleasure-feeling producing Tīrthaṅkara nāmakarman.

*varabodhita ārabhya parārthodyata eva hi.
tathāvidhaṁ samādatte karma sphītāśayāḥ pumān.*

The man, who from the very commencement of the excellent enlightened view, is intent on the benevolence, and magnanimous and binds that Tīrthaṅkara nāmakarman.

*yāvatsantiṣṭhate tasya tattāvatsaṁpravartate.
tatsvabhāvatvato dharmadeśanāyām jagadguruḥ.*

Till, the rise of Tīrthaṅkara-nāma-karman of the teacher of the universe (jagadguru) is not emiciated, he, the religious sermon being his nautre, is engaged in it (religious sermon).

*vacanaṁ caikamapyasya hitāṁ bhinnārthagocarām.
bhūyasūmapi sattvānām pratipattirṇ karotyalam.*

Even a single speech of this teacher of the universe is profoundly illustrative of the welfare, comprehending a multitude of subjects to the numerous living beings.

अचिन्त्यपुण्यसम्भारसामर्थ्यदितदीदृशम् ।

तथा चोत्कृष्टपुण्यानां नास्त्यसाध्यं जगत्त्रये ॥ ५ ॥

अचिन्त्य अर्थात् असंख्येय पुण्य-सञ्चय की सामर्थ्य के प्रभाव से उनका एक वचन भी अनेक जीवों के लिए विविध प्रकार से हितसाधक होता है, अतः उत्कृष्ट पुण्यवान् आत्माओं के लिए तीनों लोकों में कुछ भी असाध्य नहीं रहता है ॥ ५ ॥

अभव्येषु च भूतार्था यदसौ नोपपद्यते ।

तत्तेषामेव दौर्गुण्यं ज्ञेयं भगवतो न तु ॥ ६ ॥

अभव्य जीवों को भगवान् के वचनों से जो सत्त्वार्थ की प्रतीति नहीं होती उसमें अभव्य जीवों का ही दोष जानना चाहिये, भगवान् का नहीं ॥ ६ ॥

दृष्टश्चाभ्युदये भानोः प्रकृत्या किष्टकर्मणाम् ।

अप्रकाशो ह्यलूकानां तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥ ७ ॥

और देखा भी गया है, सूर्योदय होने पर भी स्वभाव से किष्ट कर्म वाले उलूकों को अन्धकार ही रहता है, उसी प्रकार अभव्य जीवों के विषय में भी समझना चाहिए, अर्थात् अभव्य जीव-देशना रूपी आलोक में भी सद्ज्ञान से वञ्चित रहते हैं ॥ ७ ॥

इयं च नियमाज्ज्ञेया तथानन्दाय देहिनाम् ।

तदात्वे वर्तमानेऽपि भव्यानां शुद्धचेतसाम् ॥ ८ ॥

उस काल अर्थात् तीर्थङ्कर के समय में तथा वर्तमान काल में भी शुद्ध चित्त वाले भव्य जीवों को यह देशना अवश्य ही आनन्द देने वाली है ॥ ८ ॥

*acintyapūnyasambhārasāmarthyādetadīdṛṣaṇi.
tathā cotkṛṣṭapūnyānām nāstyasādhyam jagatraye.*

This (his speech) is such (aforesaid) because of the effect of accumulating innumerable auspicious karmas and for those having (accumulated) excellent auspicious karmas, every thing is attainable in all the three worlds.

*abhavyeṣu ca bhūtārthā yadasau nopapadyate.
tatteṣāmeva daurguṇyam jñeyam bhagavato na tu.*

If the real meaning of the Seer's-speech is not illustrated to those not-liberatable ones (abhavya's), it must be considered their (abhavya's) fault and not that of the Lord.

*drṣṭaścābhyudaye bhānoḥ prakṛtyā kliṣṭakarmanām.
aprakāṣo hyulūkānām tadvadatrāpi bhāvvyatām.*

(Because) it is obvious that at the rise of sun, the owls with innate unauspicious karman are unable to see the light, likewise be thought of abhavyas.

*iyam ca niyamājjñeyā tathānandāya dehinām.
tadātve vartamāne'pi bhavyānām śuddhacetasām.*

The religious sermons of the Seers are certainly delightful to liberatable ones, with auspicious mind, simultaneously with the deliverance as well as afterwards.

मोक्षाष्टकम्

कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षो जन्ममृत्वादिवर्जितः ।

सर्वबाधाविनिर्मुक्त एकान्तसुखसङ्गतः ॥ १ ॥

जन्म-मरणादि से रहित, सब प्रकार की बाधाओं से मुक्त और
एकान्तिक आनन्द से युक्त मोक्ष सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से होता है ॥ १ ॥

यत्र दुःखेन सम्मिश्रं न च प्रष्टमनन्तरम् ।

अभिलाषापनीतं यत् तज्ज्ञेयं परमं पदम् ॥ २ ॥

जो दुःख-मिश्रित नहीं है, उत्पन्न होने के बाद नष्ट भी नहीं होता
है और कामनारहित है, उसे परमपद या मोक्ष कहते हैं ॥ २ ॥

कश्चिदाहारपानादिभोगाभावादसङ्गतम् ।

सुखं वै सिद्धनाथानां प्रष्टव्यः स पुमानिदम् ॥ ३ ॥

किम्फलोऽन्नादिसम्भोगो बुभुक्षादिनिवृत्तये ।

तन्निवृत्तेः फलं किं स्यात्स्वास्थ्यं तेषां तु तत्सदा ॥ ४ ॥

किसी का आक्षेप हो सकता है कि अन्न-पानादि के भोग के अभाव
में सिद्धों को सुख मानना असङ्गत है, तो उस पुरुष से यह पूछना चाहिए
कि अन्नादि के भोग का फल क्या है ? तो उसका उत्तर होगा, भूखादि दूर
करना। उसे पुनः पूछना चाहिये कि क्षुधादि की निवृत्ति का फल क्या
है ? उसका उत्तर होगा, स्वास्थ्य; तो सिद्धों का स्वास्थ्य तो सदा उत्तम ही
होता है ॥ ४ ॥

[Mokṣāṣṭakam]

*kṛtsnakarmakṣayānmokṣo janmamṛtyvādivarjitaṃ.
sarvabādhāvinirmukta ekāntasukhasaṅgataḥ.*

The annihilation of all the types of karma is liberation, free from mundane existence, blessed with absolute bliss and liberated from all the afflictions.

*yanna duḥkhena sambhinnaṃ na ca bhraṣṭamanantaraṃ.
abhilaṣāpanītaṃ yattajjñeyaṃ paramaṃ padaṃ.*

That one, never mingled with miseries, never decayed after origination, free from desire, is to be regarded as the Supreme God.

*kaścidāhānapānādibhogābhāvādasāṅgataṃ.
sukhaṃ vai siddhanāthānāṃ praṣṭavyaḥ sa pumānidaṃ.
kimphalo'nnādisambhogo bubhukṣādinivṛttaye.
tannivṛteḥ phalaṃ kiṃ syātsvāsthyaṃ teṣāṃ tu
tatsadā.*

One may allege due to the absence of food, water etc. enjoyment, the attainment of bliss to the liberated ones is not justified, that man ought to be inquired of like this? What is the effect of eating food etc. ? His reply may be satisfying one's hunger ? What is the effect of satisfying that (one's hunger) ? (His reply may be) sound health, but it is always sound in their (seer's) case.

अस्वस्थारपैः औषधं स्वस्थस्य तु न दीयते ।

अवाप्तस्वास्थ्यकोटीनां भोगोऽज्ञादेरपार्थकः ॥ ५ ॥

अस्वस्थ को ही औषधि दी जाती है, स्वस्थ को नहीं, अतः स्वास्थ्य की पराकाष्ठा प्राप्त करने वाले के लिए अज्ञादि भोग निरर्थक हैं ॥ ५ ॥

अकिञ्चित्करकं ज्ञेयं मोहाभावाद्भूताद्यपि ।

तेषां कण्डूबाधभावेन हन्त कण्डूयनादिवत् ॥ ६ ॥

जिस प्रकार खुजली के अभाव में खुजलाना व्यर्थ है, उसी प्रकार सिद्धों में मोह का ही अभाव होने से मैथुनादि भी निष्प्रयोजन हैं ॥ ६ ॥

अपरायत्तमौत्सुक्यरहितं निष्प्रतिक्रियम् ।

सुखं स्वाभाविकं तत्र नित्यं भयविवर्जितम् ॥ ७ ॥

मोक्ष सुख पूर्णतः स्वतन्त्र, औत्सुक्य अर्थात् आकांक्षा रहित, प्रतिक्रिया रहित, निर्विघ्न, स्वाभाविक, नित्य अर्थात् त्रैकालिक और भयमुक्त है ॥ ७ ॥

परमानन्दरूपं तद्ग्रीयतेऽन्यैर्विचक्षणैः ।

इत्थं सकलकल्याणरूपत्वात्साम्प्रतं ह्यदः ॥ ८ ॥

अन्य कुशल विद्वानों ने मोक्ष को परमानन्द रूप कहा है। इस प्रकार समग्रतः कल्याण रूप होने से वह साम्प्रत है ॥ ८ ॥

संवेद्यं योगिनामेतदन्येषां श्रुतिगोचरः ।

उपमाऽभावतो व्यक्तमभिधातुं न शक्यते ॥ ९ ॥

मात्र योगियों (केवलियों) को यह सुख अनुभवगम्य है, दूसरों को श्रवणगम्य है। मोक्ष-सुख की उपमा का अभाव होने से उसका स्पष्ट कथन करना सम्भव नहीं है ॥ ९ ॥

*asvasthasyaiva bhaiṣajyaṁ svasthasya tu na dīyate.
avāptasvāsthyakotīnām bhogo'nnāderapārthakaḥ.*

Medicine is administered only to sick one and not to healthy one. For liberated ones with excellent health, the feeding of food etc. is useless.

*akiñcitkarakaṁ jñeyaṁ mohābhāvādratādyapi.
teṣāṁ kaṇḍvādyabhāvena hanta kaṇḍūyanādivat.*

As in the absence of itching etc. scratching etc. is futile, similarly, their (liberated ones) delusion, eliminated, coupulation etc. also (in their case) be known as invain.

*aparāyattama utsukya rahitaṁ niṣpratīkriyaṁ.
sukhaṁ svābhāvikaṁ tatra nityaṁ bhaya vivarjitaṁ.*

There (in the case of liberated ones), the bliss is inherent, independent, free from anxiety or ardent desire, prevention or remedy and eternal (hence) free from fear.

*paramānandarūpaṁ tadgīyate 'nyairvicakṣaṇaiḥ.
itthaṁ sakalakalyāṇarūpatvātsāmprataṁ hyadaḥ.*

Some other wisemen have depicted the liberation as the Supreme bliss. Being exclusively salutary in nature, its this (epithet) is, surely proper.

*saṁvedyaṁ yogināmetadanyeṣāṁ śrutigocaraḥ.
upamā'bhāvato vyaktamabhīdhātuṁ na śakyate.*

In the case of Omniscients, this (bliss) is directly perceptible, while for others it is perceptible by the ear. It (bliss of liberation) can not be explicitly expressed in the absence of its analogy.

अष्टकाख्यं प्रकरणं कृत्वा चतुष्पुण्यमर्जितम् ।

‘विरहा’त्तेन पापस्य भवन्तु सुखिनो जनाः ॥ १० ॥

अष्टक नामक प्रकरण (की) रचनाकर जो पुण्य अर्जित किया है, उस पुण्य द्वारा पाप-विरह (विनाश) से (सम्पूर्ण) लोग सुखी हों ॥ १० ॥



*aṣṭakākhyam prakaraṇam kṛtvā yatpunyamarjitam.
'vīrahā'ttena pāpasya bhavantu sukhino janāḥ.*

Through merits, earned by me in composing this tract entitled, Aṣṭaka (cluster of eight verses), may all be delighted, owing to the destruction of all sins.



श्लोकानुक्रमणिका

| | प्र०/सं० | | प्र०/सं० |
|--------------------------|----------|---------------------------|----------|
| अकिञ्चित्करकं ज्ञेयम् | ३२/६ | अष्टापायविनिर्मुक्त | ३/३ |
| अकृतोऽकारितश्चान्यैः | ६/१ | असम्भवीदं यद्वस्तु | २९/५ |
| अक्षयोपशमात्याग | ८/५ | अस्माच्छासनमालिन्या | २३/६ |
| अङ्गेष्वेव जरां यातु | २१/६ | अस्वस्थस्यैव भैषज्यम् | ३२/५ |
| अचिन्त्यपुण्यसम्भार | ३१/५ | अहिंसासत्यमस्तेयम् | ३/६ |
| अत उन्नतिमाप्नोति | २३/८ | अहिंसेषा मता मुख्या | १६/५ |
| अत एवागमज्ञोऽपि | २२/५ | आत्मनस्तत्त्वभावत्वाद् | ३०/४ |
| अतः प्रकर्षसम्प्राप्तात् | २५/१ | आत्मस्थमात्मधर्मत्वात् | ३०/५ |
| अतः सर्वगताभासम् | ३०/७ | आर्तध्यानाख्यमेकम् | १०/१ |
| अतः सर्वप्रयत्नेन | २३/५ | इत्थं चैतदिहैष्टव्यम् | २८/८ |
| अत्यन्तमानिना सार्द्धम् | १२/२ | इत्थं जन्मैव दोषोऽत्र | १८/४ |
| अत्रैवासावदोषश्चेद् | १८/६ | इत्थमाशयभेदेन | २७/६ |
| अदानेऽपि च दीनादे | ७/५ | इदं तु यस्य नास्त्येव | २२/६ |
| अदोषकीर्तनादेव | २०/५ | इमौ शुश्रूषमाणस्य | २५/५ |
| अधिकारिवशाच्छास्त्रे | २/५ | इयं च नियमाज्ज्ञेया | ३१/८ |
| अन्यस्त्वाहास्य राज्यादि | २८/१ | इष्टापूर्तं न मोक्षाङ्गम् | ४/८ |
| अन्योऽविमृश्य शब्दार्थ | १८/१ | इष्टेतरवियोगादि | १०/२ |
| अन्यैस्त्वसंख्यमन्येषाम् | २६/२ | इष्यते चेत्क्रिया | १४/८ |
| अपकारिणि सद्बुद्धि | २९/७ | उच्यते कल्प एवास्य | २७/२ |
| अपरायत्तमौत्सुक्यं | ३२/७ | उदग्रवीर्यविरहात् | ८/६ |
| अपेक्षा चाविधिश्चैव | ८/२ | उद्वेगकृद्विषादाढ्यम् | १०/३ |
| अप्रदाने हि राज्यस्य | २८/२ | उपन्यासश्च शास्त्रेऽस्याः | १५/७ |
| अभव्येषु च भूतार्था | ३१/६ | ऋषाणामुत्तमं ह्येतत् | २/७ |
| अभावे सर्वथैतस्या | १४/३ | एको नित्यस्तथाऽबद्धः | १०/४ |
| अभावेऽस्या न युज्यन्ते | १५/८ | एतद्विपर्ययाद्भाव | ८/७ |
| अष्टकारणं प्रकरणम् | ३२/१० | एतत्तत्त्वपरिज्ञानात् | १०/८ |
| अष्टपुष्पी समाख्याता | ३/१ | एतस्मिन्सततं यत्नः | ९/८ |

| | प्र०/ सं० | | प्र०/ सं० |
|--------------------------|-----------|------------------------------|-----------|
| एतावन्मात्रसाम्येन | १७/६ | चित्तरत्नमसङ्खिलष्ट | २४/७ |
| एभिर्देवाधिदेवाय | ३/७ | जगद्गुरोर्महादानम् | २६/१ |
| एवन्नकश्चिदस्यार्थ | २७/८ | जलेन देहदेशस्य | २/२ |
| एवमाहेह सूत्रार्थम् | २६/४ | त्रिनोक्तमिति मत्प्रवृत्त्या | ८/८ |
| एवम्भूताय शान्ताय | १/८ | जीवतो गृहवासेऽस्मिन् | २५/४ |
| एवं विज्ञाय तत्याग | १०/७ | ज्ञाने तपसि चारित्रे | ३०/२ |
| एवं विरुद्धदानादौ | २१/७ | ज्ञापकं चात्रभगवान् | २७/५ |
| एवं विवाहधर्मादौ | २८/५ | ततश्च भ्रष्टसामर्थ्य | १९/८ |
| एवं सद्वृत्तयुक्तेन | १/५ | ततश्चास्याः सदा सत्ता | १५/३ |
| एवं सामायिकादन्यद् | २९/८ | ततश्चोर्ध्वगतिर्धर्मात् | १४/६ |
| एवं ह्युभयथाप्येतद् | ७/८ | ततः सदुपदेशादेः | १६/४ |
| एवं ह्येतत्समादानम् | २१/४ | ततः सन्नोत्तितोऽभावाद् | १४/४ |
| औचित्येन प्रवृत्तस्य | २२/८ | ततो महानुभावत्वात् | २६/३ |
| कर्तव्या चोन्नतिः | २३/७ | तत्यागायोपशान्तस्य | १०/५ |
| कर्मेन्धनं समाश्रित्य | ४/१ | तत्रप्रवृत्तिहेतुत्वात् | २०/६ |
| कश्चिदाहाव्रपानादि | ३२/३ | तत्रप्राण्यङ्गमप्येकम् | १७/३ |
| कश्चिदाहास्य दानेन | २७/१ | तन्नात्मा नित्य एवेति | १४/१ |
| कश्चिद्विस्तपस्तेपे | १९/४ | तथाविधप्रवृत्त्यादि | ९/५ |
| किञ्चेहाधिकदोषेभ्यः | २८/६ | तथोक्तृष्टे च सत्यस्मिन् | २२/३ |
| किम्फलोऽन्नादिसम्भोगो | ३२/४ | तदेवं चिन्तनं न्यायात् | २९/६ |
| किं वेह बहूनोक्तेन | १९/२ | तथा सह कथं संख्या | २६/६ |
| कृत्वेदं यो विधानेन | २/३ | तस्माच्छास्त्रं च लोकं च | १७/७ |
| कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षो | ३२/१ | तस्मात्तदुपकाराय | २८/४ |
| क्व खल्वेतानि युज्यन्ते | १३/३ | तस्मादासन्नभव्यस्य | २२/७ |
| क्षणिकज्ञानसन्तान | १५/१ | तस्माद्यथोदितं वस्तु | १३/८ |
| गृहीतोऽभिग्रहः श्रेष्ठो | २१/३ | तस्यापि हिंसकत्वेन | १५/६ |
| गृहीत्वा ज्ञानभैषज्य | २१/२ | दया भूतेषु वैराग्यम् | २४/८ |
| गेहाद्गेहान्तरं कश्चित् | २४/१ | दातृणामपि चैताभ्यः | ५/८ |
| गेहाद्गेहान्तरं कश्चित् | २४/३ | दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता | ४/२ |
| गेहाद्गेहान्तरं कश्चित् | २४/४ | दुःखात्मकं तपः केचिन् | ११/१ |
| गेहाद्गेहान्तरं कश्चित् | २४/२ | दृष्टश्चाभ्युदये भानोः | ३१/७ |

| | प्र०/सं० | | प्र०/सं० |
|---------------------------|----------|----------------------------|----------|
| दृष्टा चेदर्थसंसिद्धौ | ११/७ | न्याय्यादौ शुद्धवृत्त्यादि | ९/७ |
| दृष्टोऽसङ्कल्पितस्यापि | ६/८ | पञ्चैतानि पवित्राणि | १३/२ |
| तेरात्रोक्षया चैव | १२/८ | परमानन्दरूपं तद् | ३२/८ |
| देहमात्रे च सत्यस्मिन् | १६/७ | परलोकप्रधानेन | १२/६ |
| द्रव्यतो भावतश्चैव द्विधा | २/१ | पाप्मादिपरतन्त्रस्य | ९/४ |
| द्रव्यतो भावतश्चैव | ८/१ | पापं च राज्यसम्पत्सु | ४/४ |
| द्रव्यादिभेदतो ज्ञेयो | २१/८ | परिव्राज्यं निवृत्ति | १८/८ |
| धर्मलाघवकृन्मूढो | ५/५ | पितृद्वेगनिरासाय | २५/३ |
| धर्माङ्गख्यापनार्थं च | २७/३ | पीडाकर्तृत्वयोगेन | १६/२ |
| धर्मार्थं पुत्रकामस्य | २०/२ | पूजया विपुलं राज्यम् | ४/३ |
| धर्मार्थं यस्य वित्तेहा | ४/६ | प्रक्षीणतीव्रसंक्लेशम् | २३/४ |
| धर्मार्थिभिः प्रमाणादेः | १३/४ | प्रमाणेन विनिश्चित्य | १३/६ |
| धर्मोद्यताश्च तद्योगात् | २६/८ | प्रव्रज्यां प्रतिपन्नो यः | ५/४ |
| ध्यानान्भसा तु जीवस्य | २/६ | प्रशस्तो हानया भावः | ३/८ |
| न च क्षणविशेषस्य | १५/५ | प्रसिद्धानि प्रमाणानि | १३/५ |
| न च मोहोऽपिसज्ज्ञान | २/१ | प्राणिनां बाधकं चैत | २०/७ |
| न च सन्तानभेदस्य | १५/४ | प्राण्यङ्गत्वेन न च नो | १७/४ |
| न चैवं सद्गृहस्थानाम् | ६/३ | प्रायो न चानुकम्पावान् | ७/४ |
| न मांसभक्षणे दोषो | १८/२ | प्रारम्भमङ्गलं हस्या | २५/७ |
| न मोहोद्विक्ताऽऽभावे | २२/४ | प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम् | १८/५ |
| नागादे रक्षणं यद्वत् | २८/७ | बध्नात्यपि तदेवालम् | २३/२ |
| नाति दुष्टाऽपि चामीषाम् | ५/७ | भक्षणीयं सता मांसम् | १७/१ |
| नाऽद्रव्योऽस्ति गुणोऽलोके | ३०/८ | भक्ष्याभक्ष्यव्यवस्थेह | १७/२ |
| नापवादिककल्पत्वात् | २०/३ | भवहेतुत्वतश्चायम् | ७/३ |
| नाशहेतोरयोगेन | १५/२ | भावविशुद्धिरपि ज्ञेया | २२/१ |
| नित्यानित्ये तथा देहात् | १६/१ | भावशुद्धिनिमित्तत्वात् | २/४ |
| निमित्तभावतस्तस्य | ७/६ | भिक्षुमांसनिषेधोऽपि | १७/५ |
| निरपेक्षप्रवृत्त्यादि | ९/३ | भुञ्जानं वीक्ष्य दीनादि | ७/२ |
| निर्वद्यमिदं ज्ञेयम् | २९/२ | भूयांसो नामिनो बद्धाः | १०/६ |
| निष्क्रियोऽसौ ततो हन्ति | १४/२ | भोगाधिष्ठानविषये | १४/७ |
| निःस्वान्धपद्मवो | ५/६ | मद्यं पुनः प्रमादाङ्गम् | १९/१ |

| | प्र०/सं० | | प्र०/सं० |
|-------------------------|----------|-----------------------------|----------|
| मद्यं प्रपद्य तद्भोगात् | १९/७ | लौकिकैरपि चैषोऽर्थो | २१/५ |
| मन इन्द्रिययोगानाम् | ११/५ | वचनं चैकमप्यस्य | ३१/४ |
| मध्येव निपतत्वेतद् | २९/४ | वरबोधित आरभ्य | ३१/२ |
| महातपस्विनश्चैवम् | ११/३ | विचार्यमेतत् सदबुद्ध्या | १६/८ |
| महादानं हि संख्यावद | २६/५ | विजयेऽस्य फलं धर्म | १२/७ |
| महानुभावताऽप्येषा | २६/७ | विजयेऽस्याऽतिपातादि | १२/३ |
| मां स भक्षयिताऽमुत्र | १८/३ | विजयोह्यत्र सत्रीत्या | १२/५ |
| मूलं चैतदधर्मस्य | २०/८ | विनयेन समाराध्य | १९/५ |
| मोक्षाध्वगेभ्यः चैताः | १८/३ | नित्यशुद्धिर्धर्मः यस्मात् | २८/३ |
| यच्च चन्द्रप्रभाद्यत्र | ३०/६ | विभिन्नं देयमाश्रित्य | ६/६ |
| यतिर्ध्यानादियुक्तो | ५/२ | विशिष्टज्ञानसंवेग | ११/८ |
| यत्पुनः कुशलं चित्तम् | २९/३ | विशुद्धिश्चास्य तपसा | ४/५ |
| यथाविधिनियुक्तस्तु | १८/७ | विषकण्टकरत्नादौ | ९/२ |
| यथैवाविधिना लोके | ८/४ | विषयप्रतिभासं च | ९/१ |
| यत्र दुःखेन सम्भिन्नम् | ३१/२ | विषयो धर्मवादस्य | १३/१ |
| यस्तून्नतौ यथाशक्ति | २३/३ | विषयो वाऽस्य वक्तव्यः | ६/५ |
| यस्य चाराधनोपायः | १/६ | वीतरागोऽपि सद्देह | ३१/१ |
| यस्य संक्लेशजननो | १/१ | वृद्धाद्यर्थमसङ्गस्य | ५/३ |
| यः पूज्यः सर्वदेवानाम् | १/४ | शरीरेणाऽपि सम्बन्धो | १४/५ |
| यः शासनस्यमालिन्ये | २३/१ | शास्त्रार्थश्च प्रयत्नेन | ७/७ |
| यापि चाशनादिभ्यः | ११/६ | शास्त्रे चाप्तेन वोऽप्येतन् | १७/८ |
| या पुनर्भावजैः पुष्पैः | ३/५ | शुद्धागमैर्यथालाभम् | ३/२ |
| यावत्सन्तिष्ठते तस्य | ३१/३ | शुभानुबन्ध्यतः पुण्यम् | २४/५ |
| युक्तत्यागमबहिर्भूत | ११/४ | शुभाशयकरं होतद् | २७/४ |
| ये तु दानं प्रशंसन्ति | २७/७ | शुष्कवादो विवादश्च | १२/१ |
| यो न सङ्कल्पितः पूर्वम् | ६/२ | श्रूयते च ऋषिर्मद्यात् | १९/३ |
| यो वीतरागः सर्वज्ञो | १/३ | स एवं गदितस्ताभिः | १९/६ |
| रागादेव नियोगेन | २०/१ | स कृतज्ञः पुमान् लोके | २५/८ |
| रागो द्वेषश्च मोहश्च | २२/२ | सङ्कल्पनं विशेषेण | ६/४ |
| लब्धिख्यात्यर्थिना तु | १२/४ | सङ्कीर्णेषा स्वरूपेण | ३/४ |
| लब्ध्याद्यपेक्षया होतद् | ८/३ | सत्यां चास्यां तदुक्त्या | १३/७ |

| | प्र०/सं० | | प्र०/सं० |
|-----------------------|----------|----------------------------|----------|
| सदागमविशुद्धेन | २४/६ | सुवैद्यवचनाद्यद् | १/७ |
| सदौचित्यप्रवृत्तिश्च | २५/२ | सूक्ष्मबुद्ध्या सदा ज्ञेयो | २१/१ |
| संवेद्यं योगिनामेतद् | ३२/९ | स्नात्वानेन यथायोगम् | २/८ |
| सर्व एव च दुख्येवम् | ११/२ | स्नायादेवेति न तु | २०/४ |
| सर्वपापनिवृत्तिर्यत् | २५/६ | स्मरणप्रत्यभिज्ञानम् | १६/६ |
| सर्वसम्पत्करी चैषा | ५/१ | स्वरूपमात्मनो ह्येतद् | ३०/३ |
| सर्वारम्भनिवृत्तस्य | ७/१ | स्वस्थवृत्तेः प्रशान्तस्य | ९/६ |
| सामायिकविशुद्धात्मा | ३०/१ | स्वोचिते तु यदारम्भे | ६/७ |
| सामायिकं च मोक्षाङ्गं | २९/१ | हिंस्यकर्मविपाकेऽपि | १६/३ |

